जैनधर्म की कहानियाँ

भाग–१३

प्रकाशक :

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन–खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन–सोनगढ़

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का १९ वाँ पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग – १३)

लेखक :

ब्र. हरिभाई सोनगढ़

अनुवादक :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, विजौलिया

सम्पादक :

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

महावीर चौक, खैरागढ़ – ४९१ ८८१ (मध्यप्रदेश)

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ – ३६४२५० (सौराष्ट्र)

अबतक - ५,००० प्रतियाँ
द्वितीय आवृत्ति - ५,००० प्रतियाँ
१५ नवम्बर, २००१ (महावीर निर्वाण महोत्सव)

न्यौछावर – सात रुपये मात्र

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्राप्ति स्थान –

- **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा – खैरागढ़**
  श्री खेमराज प्रेमचंद जैन, 'कहान-निकेतन'
  खैरागढ़ – ४९१८८१, जि. राजनाँदगाँव (म.प्र.)

- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
  ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५ (राज.)

- **ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन**
  'कहान रश्मि', सोनगढ़ - ३६४२५०
  जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था –
जैन कम्प्यूटर्स,
श्री टोडरमल स्मारक भवन, मंगलधाम,
ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५
फोन : ०१४१-७००७५१
फैक्स : ०१४१-५१९२६५

卐 अनुक्रमणिका 卐

कुन्दकुन्दाचार्य देव	११
यशोधर कथा	१६
धन्यकुमार चरित्र	३८
चेतन काया सम्वाद	६४
तोता और पिंजरा	६९
जगत का एक महान आश्चर्य	७१
समझदार कौन ?	७४
श्री मुनिराज के साथ में	७६
एक जौहरी	७८
सर्वोत्कृष्ट नीति : जैन नीति	७९

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं: साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ मे श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य २१००१/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य ११००१/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य ५००१/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत जैनधर्म की कहानियाँ भाग १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२,१३,१४ एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट – इसप्रकार इक्कीस पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं।

जैनधर्म की कहानियाँ भाग १३ के रूप में ब्र. हरिभाई सोनगढ़ द्वारा लिखित कुन्दकुन्दाचार्य देव, यशोधर कथा, धन्यकुमार चरित्र नामक पौराणिक कथायें एवं अन्य – ७ लघु कहानियों को प्रकाशित किया जा रहा है। सम्पादन पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम इनके आभारी हैं।

आशा है पुराण पुरुषों की कथाओं से पाठकगण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

जैन बाल साहित्य अधिक से अधिक संख्या में प्रकाशित हो। ऐसी भावी योजना में शान्तिनाथ पुराण, आदिनाथ पुराण आदि प्रकाशित करने की योजना है।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन	प्रेमचन्द जैन
अध्यक्ष	**साहित्य प्रकाशन प्रमुख**

आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
"**अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़**" के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

शास्त्रवृक्ष विषैं मनबन्दर कौं रमाबौ !

कोई कहेगा कि मन तो बन्दर के समान चंचल है, इसलिए सावधानी रखने पर भी रागादिरूप परिणमित हो जाता है तो क्या करना चाहिए ? – ऐसा कहनेवाले को शिक्षा देते हैं –

जिसप्रकार बन्दर यदि खाली (फुरसत में) रहेगा तो कुछ न कुछ उत्पात अवश्य करेगा, इसलिए उसे वृक्षों में रमा दो तो वह प्रसन्न भी रहेगा और किसी का कुछ नुकसान भी नहीं करेगा; उसीप्रकार मन को कोई आलम्बन नहीं रहेगा तो वह रागादिरूप प्रवर्तन करेगा, इसलिए यदि उसे शास्त्राभ्यास में लगा दें तो वह रागादिरूप प्रवर्तन नहीं करेगा और प्रसन्न भी रहेगा।

यहाँ मात्र शास्त्रों के बाह्य पठन-पाठन आदि को ही शास्त्राभ्यास नहीं समझना चाहिए, परन्तु शास्त्र के कहे अनुसार स्वरूप का ध्यान आदि करना भी शास्त्राभ्यास ही है; क्योंकि शुक्लध्यान में भी वितर्क सहित ध्यान कहा गया है और वितर्क श्रुत को कहते हैं; इसलिए जबतक केवलज्ञान न हो तबतक शास्त्रों में मन लगाने से ही रागादि की हीनता होती है।

मनरूपी बन्दर को रमाने के लिए शास्त्रों को वृक्ष के समान कहा गया है। वृक्ष में फूल और फल सारभूत हैं और वह उनके भार से झुका रहता है। वह सघन पत्तों द्वारा सुशोभित होता है। वृक्ष की शाखाओं पर फूल और फल लगते हैं। वह अत्यन्त ऊँचा होता है। विस्तृत जड़ें ही उसके अस्तित्व का मूल कारण हैं।

वृक्ष के समान शास्त्र में भी स्याद्वाद रूप अर्थ सारभूत हैं और वे ही ग्रहण करने योग्य हैं। शास्त्र, युक्ति गर्भित वचनों से सुशोभित हैं, उनमें अनेक नयों के द्वारा कथन करके पदार्थों का निरूपण किया जाता है। शास्त्र, तीनों लोकों में पूज्य होने से सर्वोच्च हैं। मतिज्ञान अथवा बुद्धि शास्त्रों के विस्तार में मूल कारण है। इसप्रकार वृक्ष के समान शास्त्र में बन्दर के समान मन को लगाना चाहिए।

– आत्मानुशासन से साभार

कुन्दकुन्दाचार्य देव

दो हजार वर्ष पूर्व अपने भारत देश के दक्षिण भाग में एक सेठ रहता था। उनके यहाँ एक ग्वाला था जो बहुत भद्र-परिणामी था।

एक बार वह ग्वाला अपने नित्य-क्रमानुसार गायों को चराने के लिये जंगल में गया। वहाँ जाकर वह देखता है कि सम्पूर्ण जंगल आग से भस्म हो गया है, परन्तु जंगल के बीचों-बीच एक वृक्ष आग से अप्रभावित ज्यों का त्यों खड़ा है।

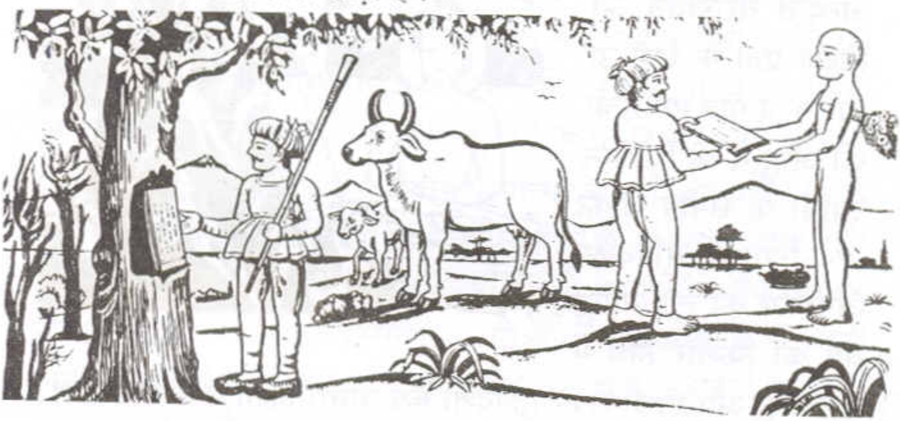

इस परिदृश्य के अवलोकन से उस ग्वाले को आश्चर्य हुआ। उसी आश्चर्य से प्रेरित होकर उसने वृक्ष के समीप जाकर देखा तो पाया कि वृक्ष की पोल में एक शास्त्र रखा है, ग्वाले को लगा कि अवश्य ही इस शास्त्र के कारण ही यह वृक्ष बचा है। इस विचार से वह ग्वाला अत्यन्त बहुमान पूर्वक उस शास्त्र को अपने घर ले आया।

एक बार उसी सेठ के यहाँ मुनिराज का शुभागमन हुआ। सेठ ने नवधा भक्तिपूर्वक उन मुनिराज को आहार दान दिया। इस परिदृश्य को देखकर ग्वाले के मन में भी मुनिराज के प्रति अत्यन्त बहुमान का भाव जागृत हुआ और वन से लाया हुआ वह शास्त्र उसने भक्ति भावपूर्वक उन मुनिराज को अर्पण किया।

उस समय उस ग्वाले के मन में ज्ञान के बहुमान की अचिन्त्य उर्मियाँ जागृत हुई और भावना हुई कि अहो ! मैं भी कब ऐसा साधु बनूँगा ? इस शास्त्र दान के फल स्वरूप उस का ज्ञानावरण कर्म अत्यंत कृष हो गया अर्थात् उसके ज्ञान का विशेष उघाड़ हो गया।

कुछ समय पश्चात् उस ग्वाले का जीव मरकर उसी सेठ के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

बालवय से ह अत्यन्त वैराग्यवंत औ तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी उर बालक ने मात्र ग्यारह व की आयु में श्री जिनचन्द्र स्वामी के समीप जाकर नग्न दिगम्बर मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। ग्यारह वर्ष का किशोर हाथ में कमण्डलु और पीछी लेकर मुनिदशा रूप वीतरागदशा में विचरने लगा। यही अपने भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव हैं।

अब उनके मुनि होने के बाद क्या हुआ ? वह सुनो ! वह बहुत ही आनन्द-दायक प्रसंग है।

वे नन्हें से कुन्दकुन्द मुनिराज आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मस्त रहने लगे उनका ज्ञान बहुत-बहुत खिलने लगा.....उनका चारित्र उज्ज्वल बना.....और जमीन पर पैर रखे बिना जमीन से चार अंगुल ऊँचे आकाश में गमन कर सकें ऐसी चारणऋद्धि भी उन्हें प्रगट हुई।

अहो ! उनका पवित्र आत्मा अन्दर में तो विकार को छूता ही नहीं था और बाहर में भी धूल को नहीं छूता था। अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे भेदभाव रहित जो 'ज्ञायक भाव' उसकी उपासना में वे तल्लीन थे और

प्रचुर स्वसंवेदन से आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द को भोगते थे। संसार समुद्र का किनारा उनके एकदम नजदीक आ गया था।

आत्मानुभव के उपरांत तीर्थनायक भगवान महावीर की परम्परा से समागत ज्ञान को भी उन्होंने प्राप्त कर लिया था। उस समय वे हजारों मुनियों में महान बने......और एक बार (मगसर बदी अष्टमी को) चतुर्विध संघ ने मिलकर महान उत्सव पूर्वक उन्हें आचार्य पद से अलंकृत किया.....। उनके सशक्त करकमलों में जैनशासन का रथ सौंपा, वे जैन-शासन के नेता बने, उनके प्रताप से जैनधर्म की बहुत उन्नति हुई, धर्म की प्रभावना हुई। यद्यपि उनका ज्ञान अगाध था, तथापि अभी केवलज्ञान नहीं था, तथा उस समय भरत क्षेत्र में कोई केवलज्ञानी भी विद्यमान नहीं थे। केवलज्ञान का ऐसा विरह उनको कभी-कभी खटकता भी था।

अरे ! भरत क्षेत्र में तो सर्वज्ञ परमात्मा के दर्शन भी नहीं ! विदेह क्षेत्र में तो सीमंधरादि परमात्मा साक्षात् विराज रहे हैं–इसप्रकार सीमंधरादि परमात्माओं को स्मरण करते हुए वे 'पौन्नूर' के समीप बैठे-बैठे सीमंधर परमात्मा के समवसरण को स्मरण कर रहे थे, "वहाँ सर्वज्ञदेव की वाणी मूसलाधार बरसती होगी," गणधर विराजते होंगे। अनेकों मुनिराज आत्मध्यान करके केवलज्ञान पाते होंगे। अहा ! कैसे होंगे वे दृश्य !!

इसप्रकार यहाँ भरत क्षेत्र में कुन्दकुन्द मुनिराज सीमंधर प्रभु को याद कर रहे थे, वहाँ भगवान के समवसरण में इस बात की खबर पड़ी। वहाँ से दो देव भक्तिपूर्वक कुन्दकुन्द स्वामी के पास आये और उनके साथ आकाशमार्ग से विचरण करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी विदेह क्षेत्र में सीमंधर परमात्मा के दर्शनों के लिये रवाना हुए। अहा ! भरत क्षेत्र के मुनिराज विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर से मिलने आकाश मार्ग से चले..... भरत क्षेत्र के मुनिराज देह सहित विदेह की यात्रा के लिए चले..... कैसा होगा वह अद्भुत् प्रसंग !

अहा ! ये कुन्दकुन्द मुनिराज भगवान के दर्शनों के लिये आकाशमार्ग से जा रहे हैं, कैसा हो वह दृश्य? और कैसे होंगे उन मुनिराज

के अंतरंग भाव? केवलज्ञान के साधक मुनिराज केवलज्ञान को साक्षात निहारने जा रहे हैं। भरत क्षेत्र के तीर्थपति विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर की वाणी सुनने जा रहे हैं। दक्षिण देश में से पूर्व विदेह की ओर जाते-जाते बीच में सम्मेदशिखर तीर्थ भी मार्ग में आया होगा...... उसे वन्दन करते हुए ऋद्धिबल से पर्वत को लांघकर थोड़ी ही देर में शाश्वत् तीर्थ मेरु की भक्ति भाव से वन्दना की होगी.... रत्नमय शाश्वत जिनबिम्बों की वीतरागता देख-देखकर वीतराग भाव की उर्मियाँ उनमें जगी होंगी। इसप्रकार मार्ग में अनेक तीर्थों की वन्दना करते हुए उन्होंने थोड़ी ही देर में विदेहक्षेत्र की भूमि में प्रवेश किया।

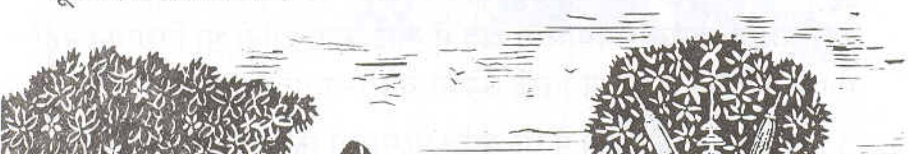

अहा ! विदेह क्षेत्र में समवसरण के मध्य में सीमंधर परमात्मा को नजर से निहारते ही उनके आत्मा में कोई अचिन्त्य विशुद्धि प्रगटी.....इस ज्ञायक परमात्मा को देखकर मानो एक बार तो वे स्वयं भी तत्क्षण निज ज्ञायक में ठहर गये। परम विनय से हाथ जोड़कर कोई अपूर्वभाव से प्रभु को नमस्कार किया, दिव्यध्वनि का श्रवण किया। अहा ! यह शंभूस्वामी आदि गणधर भगवंतों और इन चैतन्यलीन मुनिवरों की सभा।...... यह

इन्द्र और पद्म चक्रवर्ती द्वारा प्रभु की सेवा और धर्म का अद्‌भुत् वैभव। ये सब धर्म की आराधना के अद्‌भुत् आनन्दकारी दृश्य कैसे होंगे, विदेह के ये दृश्य देखकर उनका आत्मा तृप्त हुआ। दिव्यध्वनि रूपी गंगा में से हृदय भर-भरकर शुद्धात्मा का अमृत पिया–

प्रत्यक्ष जिनवर दर्श का बहु हर्ष एलाचार्य को।
ओंकार सुनता जिनतणों अमृत मिला मुनि हृदय को ॥

भरतक्षेत्र के मुनि ने विदेह क्षेत्र के भगवान का दर्शन किया, वे आठ दिन विदेह क्षेत्र में रहे...आठ दिनों तक भगवान के चरणों में दिव्यध्वनि का अमृत पिया...बहुत-बहुत पिया।

वहाँ के मुनियों के साथ उन्होंने कैसी चर्चा की होगी। और कैसे भाव से गणधरों और श्रुतकेवलियों के चरणों की उपासना की होगी, अहो ! भरत क्षेत्र और विदेह क्षेत्र के मुनिराजों के मिलन का वह दृश्य कैसा होगा !! यह प्रसंग देखने वाले जीव भी कितने भाग्यशाली हैं। भरत क्षेत्र के इन प्रतिनिधि को देखकर विदेह क्षेत्र के मनुष्य भी आनन्दित हुए और अत्यन्त भक्ति से कुन्दकुन्दाचार्य का बहुमान किया।

विदेह के विशाल (आकृतियुक्त) मानवों के समक्ष भरत के मानव तो एकदम छोटे लगते हैं, अत: विदेह के मानवों ने उन्हें छोटे से आचार्य अर्थात् एलाचार्य नाम संबोधित किया। भले ही विदेह के मुनियों की तुलना में उनका शरीर छोटा था, पर दशा तो (आत्मानंद तो) उनकी विदेह के मुनियों जैसी ही थी। जैसे विदेह क्षेत्र के मुनि, वैसे ही अपने भरत क्षेत्र के ये मुनि। विदेह के मुनियों ने भरत क्षेत्र के इन मुनिराज के प्रति कैसा वात्सल्य भाव दर्शाया होगा।

इसप्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने परम भक्ति से विदेह की यात्रा की और सीमंधर भगवान के दर्शन किये। वाह ! ज्ञायकभाव के आराधक इस...महान ..... जीव ने भगवान को साक्षात् निहारा......और आज स्वयं भी उनका मार्गानुसारी बनकर पंचपरमेष्ठी की पंक्ति में बैठा है। ●

अत्यंत वैराग्य प्रेरक करुणरस से भरी अहिंसाधर्म की प्रतिपादक

यशोधर कथा

(वैराग्यी क्षुल्लक श्री अभयकुमार की आत्मकथा)

योधेय देश के राजपुर नगर में मारिदत्त नामक राजा राज करता था। एक बार उस राजा के वीर भैरव नामक कुलगुरु ने कहा– हे राजन्! यदि तुम चंडमारी देवी के समक्ष सभी जाति के जीवों के युगलों (स्त्रीलिंग व पुलिंग धारक जीवों को) चढ़ाओगे तथा इनमें सर्वोत्कृष्ट मनुष्य युगल को अपने हाथ से चढ़ाओगे तो तुम्हें विद्याधरों के ऊपर भी विजय प्राप्त करानेवाली दिव्य तलवार की सिद्धि होगी। तथा आकाशगामिनी विद्या भी प्रकट होगी।

वह घोर पापबुद्धि का धारक मिथ्यादृष्टि तथा लोभी राजा अपने कुलगुरु वीर भैरव की बात मानकर इस महाहिंसक यज्ञ को करने के लिए तैयार हो गया। तदनुसार अपने सैनिकों को सर्वप्रकार के जीवों के युगल लाने का आदेश दे दिया। कुछ ही समय में हाथी, घोड़ा, ऊंट, मगरमच्छ, बंदर, मोर, तोता, खरगोश आदि लगभग सभी प्रकार के जीव युगल यज्ञ में मारने के लिए लाये जा चुके, मात्र मनुष्य युगल आना बांकी रहा। सो उस राजा ने मनुष्य युगल को खोजने हेतु सैनिकों को पुन: भेजा।

चंडमारी देवी का मंदिर महाभयानक था, वहां मांस, मदिरा के लालची अंधभक्तों की भीड़ जमा रहती थी। मूर्ख लोग देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने शरीर में से खून, मांस निकाल कर उसे चढ़ाते थे। पशुओं का वध करके उस देवी को चढ़ाते थे, फिर उस मांस का स्वयं भक्षण करते थे तथा दूसरों को कराते थे। इसी मंदिर पर आज महान हिंसक यज्ञ की तैयारी चल रही थी, राजा मारिदत्त मनुष्य युगल के आने की प्रतिक्षा कर रहा था।

उसी समय उस राजपुर नगर में वीतराग दिगम्बर जैन आचार्य

श्री सुदत्ताचार्य का ससंघ आगमन हुआ। उसी संघ में मुनि की तथा आर्यिका पद की भावना वाले सहोदर भाई-बहिन भी थे। एक क्षुल्लक अभयरुचि और दूसरी उसकी बहिन क्षुल्लिका अभयमति। ये दोनों भाई-बहिन अतिसुन्दर रूपवान एवं राजकुलीन थे।

यशोमति राजा की कुसुमावती रानी के गर्भ से एक साथ जन्मे थे। ये दोनों पूर्वोक्त राजा मारिदत्त के भानजे थे। दोनों ही भाई-बहिन बचपन से ही वैरागी थे और बचपन से ही मुनिसंघ के साथ रहकर साधना का अभ्यास करते थे।

जिस समय राजा मारिदत्त के सैनिक मनुष्य युगल की खोज कर रहे थे, उसी समय ये सहोदर आहार के लिए नगर में आ रहे थे। राज सैनिकों ने जब इन दोनों को देखा तो इन्हें पकड़ कर राजा के पास चंडमारी देवी के मंदिर में ले गये।

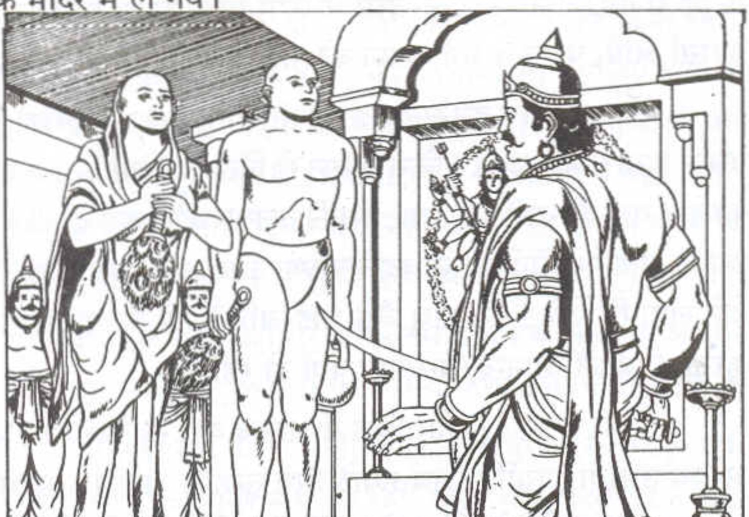

चंडमारी देवी के भैरव मंदिर का क्रूर हिंसामय वातावरण देखकर ये भाई-बहिन समझ गये कि जरूर हमारे ऊपर कोई उपसर्ग आया है। वहाँ हाथी, घोड़ा, ऊंट, मगरमच्छ, बंदर, मोर, तोता, खरगोश आदि समस्त प्राणी युगल भय से थर-थर काँप रहे हैं। सबसे पहले मनुष्य युगल का

बलिदान होना था, उसके बाद अन्य समस्त प्राणियों का बलिदान होना था। अभयरुचि और अभयमति की सादा वेष-भूषा और भद्रमुख-मुद्रा देखकर सभी प्राणी उनकी तरफ टकटकी लगाकर आशाभरी नजरों से देखने लगे कि ये पुण्यवान दयालु मनुष्य हमारी रक्षा अवश्य करेंगे।

राजा मारिदत्त के हाथ में नंगी तलवार एवं वातावरण की भयानकता देखकर वैरागी अभयरुचि धीरता भरी नजरों से अपनी बहिन की ओर देखता है। वीरपुत्री अभयमति भी सचमुच 'अभया' ही थी, वह भाई की दृष्टि से ही भाई का आशय समझ गई। अत: उसने भी अपने भाई की तरफ एकदम निशंक व निर्भय दृष्टि से देखा। बहिन की इतनी हिम्मत देखकर अभयरुचि निश्चिंत हो गया। अहा ! आत्मा की अमरता को जानने वाले ये भाई-बहिन अपनी आँखों के सामने मृत्यु का भयंकर ताण्डव देखकर भी घबराये नहीं, बल्कि पंच-परमेष्ठी के स्मरण पूर्वक धर्म की आराधना में दृढ़ हो गये। दोनों को एक-दूसरे के ऊपर विश्वास था कि चाहे जितना उपसर्ग आवे, परन्तु वे धर्म-ध्यान को नहीं छोड़ेंगे, धैर्य को नहीं छोड़ेंगे।

राजा मारिदत्त इस सुन्दर व भद्रपरिणामी मनुष्य युगल को देखकर प्रसन्न हुआ। कौन जाने? किस कारण से हिंसा के लिए उठा हुआ राजा का हाथ वहीं का वहीं रुक गया, उसकी तलवार की पकड़ ढीली पड़ गई। उसकी आँखों में निर्दयता के बदले करुणा उभर आई। उसे स्वयं आश्चर्य होने लगा कि अरे ! इन साधु जैसे भाई-बहिनों को देखकर मेरे चित्त में क्रूरता के बदले आनन्द/प्रसन्नता क्यों हो रही है।

"अरे राजन् ! तुम्हारे चित्त में आनन्द क्यों नहीं उभरेगा? अर्थात् अवश्य उभरेगा; क्योंकि अब हमारे जैसा तुम्हारा अहिंसक स्वभाव भी जाग उठा है। तुम्हें घोर हिंसा से दुर्गति में जाने से रोकने वाला अहिंसा धर्म प्राप्त कराने वाले सज्जन युगल आत्माओं का सुयोग्य सहज ही मिल रहा है। अत: तेरे चित्त में शान्ति उत्पन्न क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी।"

अभयरुचि और अभयमति दोनों भाई-बहिन गंभीर दृष्टि से राजा

की तरफ देखते हैं और हाथ ऊँचा करके उसे धर्मध्यान का आशीर्वाद देते हैं। राजा तो आश्चर्य से देखता ही रह जाता है। अरे! मैं जिन्हें मारने के लिए हाथ में नंगी तलवार लिए खड़ा हूँ, वे ही मुझे निर्भयपने धर्मलाभ का आशीर्वाद दे रहे हैं। अरे ! मेरे इस तलवार वाले हाथ के सामने यह आशीर्वाद देता हुआ परम अहिंसक हाथ कितना अच्छा लग रहा है। जरूर इनके द्वारा मेरा अवश्य ही कोई अपूर्ण कल्याण होने वाला है। ऐसे विचारपूर्वक वह मारिदत्त राजा ने क्षुल्लक श्री अभयरुचि से पूछा—

हे भद्र ! तुम कौन हो ? किस देश के हो ? किस कुल की शोभा हो ? बाल्यावस्था से ही तुमने वैराग्य कैसे पाया? तुम्हें देखकर मुझे अच्छा क्यों लग रहा है ? मेरी इन सब शंकाओं का कृपा करके समाधान करो।

तब, जिन्हें अपने अनेकों पूर्वभवों का जातिस्मरण ज्ञान हुआ है— ऐसे वे वैरागी क्षुल्लक श्री अभयरुचि बोले— हे राजन् ! सुनो, वैसे तो साधु पुरुष अपने देश, कुल, या दीक्षा का कारण किसी को बिना प्रयोजन बताते नहीं है, फिर भी तुम्हें जानने की जिज्ञासा है, इसलिए तथा इसमें अनेक जीवों का हित है — ऐसा जानकर में वैराग्य को जगाने वाली अपनी कथा तुम्हें सुनाता हूँ। राजा सहित हजारों की जनसंख्या में वहाँ उपस्थित जन-समुदाय, भैरव आदि कुगुरु सभी आश्चर्यचकित हो उन क्षुल्लक श्री अभयरुचि की कथा ध्यान से सुनने बैठ गये।

पूर्वभव के राजा यशोधर और वर्तमान भव के क्षुल्लक अभयरुचि अपने श्रीमुख से अपने पूर्वभवों की वैराग्य कथा इसप्रकार कहते हैं—

"अवन्ती देश की उज्जैनी नगरी में यशोरथ (यशोर्थ) नाम का राजा और उसकी चंद्रमती नाम की रानी रहती थी। उनका एक यशोधर नाम का पुत्र था। एक बार राजा यशोरथ अपने सिर का सफेद बाल देखकर संसार से विरक्त होकर दिगम्बर दीक्षा धारण कर साधु हो गये। तब यशोधर कुमार का राज्याभिषेक हुआ और अमृतमती के साथ उनका विवाह हुआ।

पाठकगण ! ध्यान रखें कि ये यशोधर राजा का जीव ही इस कथा का कथानायक क्षुल्लक अभयरुचि हैं।

एक दिन राजा यशोधर अमृतमती रानी के महल में सो रहे थे, तभी अर्धरात्रि के समय वे दखते हैं कि उनकी रानी अमृतमती अपनी शय्या से उठकर कहीं जा रही है।

पहले तो उन्होंने सोने का बहाना करते हुए उसे देखा, परन्तु जब रानी वस्त्र बदल महल के बाहर गई, तब उन्होंने उसका पीछा किया और देखा कि रानी महल के बाहर अष्टबक्र महावत की झोंपड़ी में गई और वहाँ कुबड़े वदसूरत महावत को जगाया। 'आज देर से क्यों आई है।' – ऐसा पूछते हुए उस कुबड़े महावत ने रानी की चोटी खींचकर उसे क्रोधपूर्वक मारने लगा। विषयांध रानी उसके पैरों पर गिरकर क्षमा मांगते हुए बोली– 'राजा के होने के कारण आने में देरी हो गई , परन्तु यशोधर के पास होने पर भी मेरे हृदय में तो तुम्हीं विराजमान थे। सच कह रही है, यदि झूंठ बोलती होऊँ तो मुझे देवी चण्डिका खा जाये।' इसप्रकार महावत को मनाकर रानी उसके साथ भोग भोगने लगी।

अरे रे ! संसार ! विषयमग्न अज्ञानी प्राणी जिसप्रकार चैतन्य सुख को छोड़कर इन्द्रिय विषयों में रंजायमान होता है, उसीप्रकार यह विषयांध रानी सुन्दर रूपवान, गुणवान अपने पति राजा यशोधर को छोड़कर कुबड़े बदसूरत महावत के साथ रम रही है।

जब यह सब दुष्कृत्य राजा ने अपनी आँखों से देखा और कानों से सुना, तो उसे इतना क्रोध आया कि उन्होंने दोनों को मारने के लिए पहले तो तलवार निकाल ली, फिर 'छोटा सा कुंअर (बालक) माँ के बिना अकेला रह जायेगा और लोक में निन्दा भी होगी।' – ऐसा विचार कर शांत रहा और तलवार अन्दर म्यान में रख ली। तथा चुपचाप वापस आकर सोने का बहाना करके लेट गया। रानी भी चुपचाप आकर अपने पलंग पर सो गई। मानो जैसे कुछ हुआ ही न हो।

इस रात राजा को नींद नहीं आई, वह पूरी रात अन्दर ही अन्दर इस घोर वेदना से उभर नहीं सका, अत्यन्त दुःखी रहा। उसे रानी के प्रति अत्यन्त नफरत हो गई, संसार की यह दशा देखकर उसने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया।

चित्र न. ३

दूसरे दिन प्रातः राजसभा लगी, राजसभा में राजा यशोधर राजमाता चन्द्रमती के साथ-साथ सेनापति, मंत्री, कविराज, दीवान आदि सभी उपस्थित थे। सबसे पहले राजकवि ने एक सुन्दर गीत गाया, गीत के बोल थे – देखा नहिं कछु सार जगत में, देखा नहिं कछु सार.....।

अपनें वैराग्य विचार के अनुकूल गीत सुनकर राजा ने राजकवि को विशेष इनाम दिया। यह देखकर राजमाता चंद्रमती को संदेह हो गया कि अवश्य ही कोई विशेष बात है। यशोधर आज उदास क्यों है ? यह जानने के लिए राजमाता ने राजसभा समाप्त होने पर उसकी उदासीनता का कारण पूछते हुए कहा –

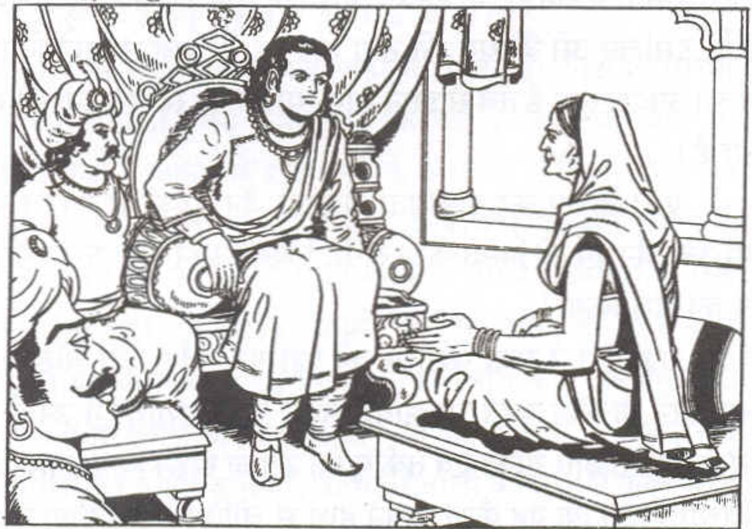

बेटा ! आज तुम्हारा चित्त राजकाज से एकदम उदास क्यों है ?

तब राजा यशोधर ने जो पहले से ही मन में सोच रखा था, वह

अपने मुख से राजमाता से इस प्रकार कहा – हे माता ! आज रात्रि में मैंने एक भयानक दुःस्वप्न देखा है, जिससे मैं भयभीत हूँ और पुत्र को राज सौंप कर संसार से विरक्त होना चाहता हूँ।

मोहान्ध अज्ञानी माता ने कहा – बेटा ! ऐसे स्वप्नों पर तुम्हें ध्यान देने की जरूरत नहीं है, यदि तुम्हें इस दुःस्वप्न से अधिक भय लगता है, तो इसकी शांति के लिए तुम्हारे ही हाथों कुलदेवी चंडिका के समक्ष समस्त प्रकार के पशुओं की बलि चढ़ाने वाला पशुयज्ञ करा देते हैं, जिससे तुम्हें शांति होगी।

अपने हाथ से पशुओं के बलि देने की बात सुनते ही राजा यशोधर का चित्त कांप उठा। अरे ! पशु हिंसा तो पाप है उसके द्वारा शांति कहाँ से होगी ? अहिंसा ही एक मात्र सुखकर है/हो सकती है। हिंसा सुखकर कैसे हो सकती है ? – इस प्रकार अनेक युक्तियों पूर्वक उन्होंने माता को समझाने का प्रयास किया, क्योंकि हिंसा कार्य में उनका मन नहीं लगता था। राजमाता ने समझा कि शायद कोई जैन मुनि से इसकी मुलाकत हो गई है, इसलिए उसे जैनधर्म की हवा लग गई है। जब से इसने दिगम्बर धर्म का उपदेश सुना है तब से इसने माँस-मदिरा का सेवन करना भी छोड़ दिया है।

ऐसा विचार कर राजमाता चंद्रमती जैन गुरुओं से नफरत करने लगी और जैनधर्म की निन्दा करने लगी, जिससे उसने मिथ्यात्व रूपी घोर पाप का बंध किया।

राजमाता ने राजा यशोधर को पशु यज्ञ पूर्वक देवी चंडिका की पूजन करने के लिए बहुत समझाया, परन्तु राजा यशोधर ने उनकी यह बात नहीं मानी और युक्ति एवं तर्क पूर्वक उसका खंडन किया। तब माता ने विचार किया कि यह कुँवर अपने हाथ से जीवित प्राणियों का वध तो नहीं करेगा; परन्तु यज्ञ में पशुओं का बलिदान तो देना ही चाहिए। हिंसा मार्ग में फँसी हुई वह पापी रानी कुँवर को मनाने हेतु एक युक्ति विचार

कर कहती है – बेटा ! तुम जीवित मुर्गे को नहीं मार सकते तो भले मत मारो; परन्तु आटे के बने हुए मुर्गे में जीवित मुर्गे का संकल्प करके देवी के सामने उसका बलिदान तो दे ही सकते हो, तब भी वही फल मिलेगा।

(पाठको ! "वही फल मिलेगा" इसका अर्थ समझे ? इसका अर्थ है कि – जो जीवित जीवों को मारने का फल – नरक, तिर्यंच आदि के अनन्त दुःख हैं, वही फल अर्थात् नरक,तिर्यंच आदि के अनन्त दुःख आटे के मुर्गे को मारने का मिलेगा; क्योंकि जीव मरता या जीता तो अपनी आयु कर्म के क्षय या उदय से है और फल मिलता है परिणामों का। अत: हमें हिंसा के परिणामों विरक्त होना चाहिए।)

इसलिए मैं तुझसे निवेदन करती हूँ कि तू आटे के मुर्गे में जीवित मुर्गे का संकल्प करके उसे देवी चंडिका के सामने बलिदान कर दे।

जिसके धर्म की प्राप्ति अत्यंत दूर हो ऐसे उस मूर्ख राजा यशोधर ने रानी की यह बात स्वीकार कर ली, साथ में उसके साथ दुर्गति भी स्वीकार कर ली, अर्थात् महापाप का बंध किया।

इधर रानी अमृतमती या कहो जहरमती राजसभा का यह समाचार सुनकर क्षुब्ध हो उठी। वह समझ गई कि यह दुःस्वप्न की बात तो बनावटी है, राजा ने जरूर मेरे द्वारा रात्रि के अंधकार में किया गया पाप जान लिया है। इसलिए अपना पाप कलंक प्रसिद्ध नहीं हो, अत: उस रानी ने राजा को मारने का एक क्रूर षड़यंत्र बनाया। अरे रे ! विषयान्ध रानी स्वयं ही अपने आप को विधवा बनाने के लिए तैयार हो गई। उसने राजमाता को यह खबर भिजवाई कि मैं उनकी (पति की) सलामती के लिए स्वयं देवी के समक्ष अपना बलिदान देने को तैयार हूँ, और यदि वे राज संसार छोड़कर वन में जाते हों, तो भी सीताजी की तरह मैं उनके साथ वन में जाऊँगी। तथा जब राजा द्वारा देवी पूजा पूर्ण हो जाए तब राजपुत्र के साथ राजमाता मेरी रसोई में भोजन करने पधारें, – ऐसा उसने आमंत्रण दिया और राजमाता ने उस आमंत्रण को स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन आटे से बने मुर्गे को यशोधर राजा ने ऐसे मारा, जैसे मानो सचमुच के जीवित मुर्गे को मार रहा हो। "जीवित मुर्गे की बलि चढ़ाने में जो फल लगता है, वही फल मुझे इसके चढ़ाने से लगे" इस संकल्प के साथ उसने आटे के मुर्गे की गरदन पर छुरी चला दी और बाद में उसके टुकड़े में मांस की कल्पना करके उसे खाया भी।

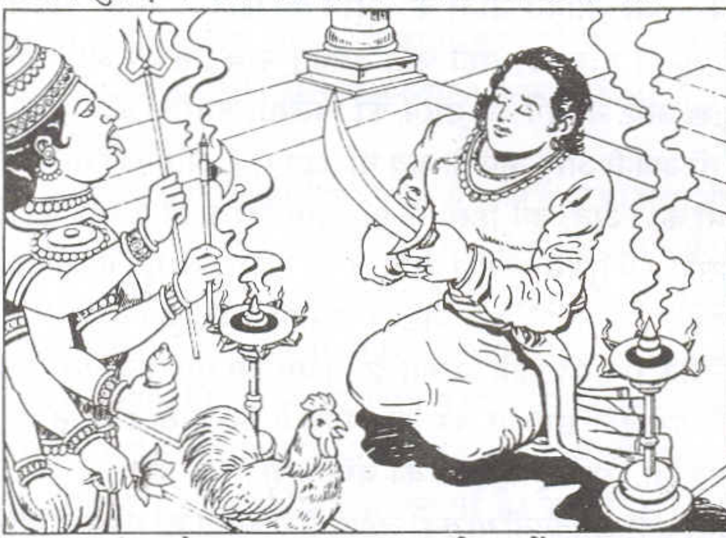

इसी यशोधर राजा का जीव वर्तमान में क्षुल्लक अभयरुचि की पर्याय में अपनी ही पूर्वभव की यह दुखभरी कथा मारिदत्त राजा को सुनाते हुए कहता है–

"हे राजन् ! ऐसी संकल्पपूर्वक हिंसा घोर मिथ्यादृष्टि के ही होती है और उसका महान पाप लगता है। जीव मरे या न मरे पर उसको मारने के संकल्पमात्र से मारने वाले जीव को ऐसा महान पाप का बंध होता है कि उसे उसके फल में भंयकर दुख सहन करने पड़ते हैं।"

कथा आगे बढ़ती है– आटे के मुर्गे का बलिदान देने के बाद राजा यशोधर तथा उसकी माता चन्द्रमती रानी अमृतमती के महल में भोजन करने जाते हैं।

रानी अपने पूर्व षडयंत्र के अनुसार कपट करके राजा तथा

राजमाता के भोजन में हालाहल जहर मिला देती है। परिणामस्वरूप राजा तथा राज़माता भोजन करते ही मर जाते हैं।

हिंसारूपी दुर्ध्यानपूर्वक मरण करके यशोधर का जीव तो मयूर होता है और उसकी माता चन्द्रमती कूतरी होती है।

यशोधर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र यशोमतिकुमार राज्य करने लगा। संयोगवशात् एकबार वह मयूर और कूतरी दोनों उसके राजमहल में आ गये। राजमहल को देखते ही मयूर को अपने पूर्वभव की जाति का स्मरण हो गया। एकबार उस मयूर ने रानी अमृतमती को उसी पहले वाले कुबड़े महावत के साथ रमण करते देखा, तो उसे भारी गुस्सा आया और वह अपनी चोंच के तीव्र प्रहारों से उसे मारने लगा। तब रानी जोर -जोर से चिल्लाने लगी, शोर सुनकर आस-पास के लोग इकट्ठे हो गये और मयूर को मारने लगे; इतने में कूतरी भी वहीं आ गई और उसने मयूर को मार डाला।

पूर्वभव की माता ने अपने ही पुत्र को मार डाला। राजा यशोमति को उस मयूर से बहुत लगाव था, राग था। अत: उसने कूतरी को मार डाला अर्थात उसने अपनी दादी को ही मार डाला।

फिर दूसरे भव में मोर का अर्थात् यशोधर का जीव तो मरकर

नेवला हुआ और कूतरी अर्थात् चन्द्रमती का जीव सर्प हुआ। नेवला एक दिन बहुत भूखा था, वह सर्प को खा गया। अर्थात् एकप्रकार से बेटा अपनी माँ को खा गया। तभी नेवले को एक शिकारी ने मार डाला।

क्षुल्लक अभयरुचि अपनी यह कथा सुनाते हुए आगे बोले – हे राजन्! नेवले का जीव है जो यशोधर पर्याय में मेरी माता थी और जिसने मुझे संकल्प हिंसा कराई थी।

फिर तीसरे भव में मैं तो उज्जैन की क्षिप्रा नदी में मछली हुआ और यह मगर हुआ।

एक बार यशोधर पर्याय में जो मेरा पुत्र था यशकुमार, उसकी रानी कुसुमावती नदी किनारे गई। तब उसकी दासी को वह मगर पकड़ कर ले गया। अतः राजा के आदेशानुसार मछेरों द्वारा मगर तथा मछली को पकड़वा कर, उनका मांस पकाया गया और उससे अपने पूर्वजों को श्राद्ध-तर्पण किया।

"अरे रे! पूर्वजों के जीवों को ही मारकर उनका श्राद्ध किया।"

फिर चौथे भव में वह मगर और मच्छ अर्थात् राजा यशोधर तथा माता चन्द्रमती दोनों मर कर बकरी तथा बकरा हुए।

"अरे! एक समय (यशोधर के भव में) इन दोनों में माँ और पुत्र जैसा पवित्र सम्बंध था, आज वही बकरा और बकरी होकर भोगासक्त हो रहे हैं। संसार की कैसी विचित्रता है।" जब ये बकरा और बकरी भोगासक्त थे, तभी एक मैढ़े ने उस बकरे को मार डाला। तब बकरा मरकर बकरी के ही गर्भ में आ गया अर्थात् बकरा स्वयं ही स्वयं का पिता तथा स्वयं का स्वयं का पुत्र बन गया।

एक बार राजा यशोमतिकुमार शिकार करने गया, तब वहाँ उसने इस गर्भवती बकरी को ही बाण मारा, बाण से बकरी का पेट फट गया और बकरी मर गई तथा उसके पेट में से बकरी का बच्चा निकला। राजा उस बच्चे को लेकर राजमहल गये, जहाँ उसकी माता अमृतमती ने उसका मांस पका कर खाया अर्थात् एक प्रकार से वह अपने पति को ही खा गई।

फिर पाँचवे भव में बकरी का जीव पाड़ा हुआ। एक बार पाड़ा ने राजा के घोड़े को जोर से सींग मार दिया, जिससे राजा यशकुमार ने पाड़े को पकड़वा कर अत्यंत क्रूरता से मारा और फिर जीवित ही पका कर उसका मांस खाया। अर्थात् अपनी दादी माँ को ही खा गया।

छठवें भव में वह बकरी का बच्चा तथा पाड़ा दोनों वहाँ से मरकर फिर मुर्गा एवं मुर्गी हुए। अरे ! एक बनावटी मुर्गा की संकल्प पूर्वक हिंसा करने के फल में यह दोनों जीव इतने भवों में नीच पर्याय/हीन पर्याय में भ्रमण करते रहे।

अब यही मुर्गा और मुर्गी का जीव दिगम्बर जैन मुनिराज के पास से अहिंसा धर्म के संस्कार किस प्रकार पाते हैं। यह कहते हैं –

एक बार एक जल्लाद उन मुर्गा-मुर्गी को पकड़कर राज्य उद्यान में ले गया और उन्हें आपस में लड़ाने का खेल दिखाने हेतु राजा यशोमति कुमार को निमन्त्रण दिया।

राजा ने कहा – मैं कामदेव की पूजा करके आता हूँ, तब तक उन्हें पिंजड़े में बंद करके उद्यान में रखो।

अत: उज्जैन के राज्य उद्यान में वह मुर्गा-मुर्गी एक पिंजड़े में बन्द करके रखे गये। जब वे मुर्गा-मुर्गी पिंजड़े में ही मनोहारी क्रीड़ा कर रहे थे, तभी एक आश्चर्यकारी घटना घटी, उद्यान में समस्त प्रकार के फल अचानक खिल उठे। चारों ओर सुन्दर सुगन्ध फैल गई। सुगंधित हवा बहने लगी। इन सबका क्या कारण है ? यह बात भी अत्यंत मनोहारी है, तुम ध्यान से सुनो। बात यह थी कि उस समय उद्यान में सुदत्त नाम के जैनाचार्य का पदार्पण हुआ, जिससे चारों तरफ खुशियाली छा गई।

यह सुदत्त नाम के आचार्य पहले कलिंग देश के राजा थे तथा यशोधर राजा जो कि अभी मुर्गा की पर्याय में पिंजड़े में बंद हैं, उसके मित्र थे। वे ही दिगम्बर मुनि बनकर विहार करते हुए आज इस उज्जैन के उद्यान में पधारे थे, मानो जैसे वे अपने पूर्व के मित्र को अहिंसा धर्म प्राप्त कराने व तिर्यंच गति से निकालने के लिए ही आये हों। मुर्गा-मुर्गी सुदत्ताचार्य को देखकर मन ही मन अत्यंत खुश हुए और मानो मुनिराज की शान्त मुद्रा को देख-देखकर उनकी दिव्यवाणी सुनने को आतुर हो रहे हों।

किसी महापुण्य के उदय से वह मुर्गा-मुर्गी भी आम मनुष्यों की भाषा समझने लगे थे।

आचार्य श्री सुदत्त मुनिराज ने अहिंसाधर्म का उपदेश देते हुए कहा – यह जीव हिंसा से भयंकर दु:ख भोगता है। यज्ञ के लिए कुदेव-कुदेवी के नाम पर की हुई संकल्पी हिंसा भी महापाप है। हिंसा पोषक कुमार्ग के सेवन से और कुदेवादि के सेवन से जीव घोर संसार में रखड़ते हैं।

अरे ! अपने शरीर में छोटा सा काँटा चुभने पर कैसा भयंकर दु:ख होता है। तब फिर यज्ञ के बहाने दूसरे जीवों की गरदन पर छुरी चलाने से उन जीवों को कितनी पीड़ा होती होगी। यह मूढ़ जीव इसका विचार भी नहीं करता।

अहो ! इस जगत में एक जैनधर्म ही परम अहिंसक है। जैनधर्म किसी भी बहाने किसी भी जीव की हिंसा को स्वीकार नहीं करता। अरे

सच्चे जीव की तो क्या बात । बनावटी आटे या मिट्टी के जीव की भी हिंसा नहीं करता।

जब मुनिराज की मधुर एवं हितकारी वाणी मुर्गा-मुर्गी बड़े ही ध्यान से सुनते हुए चित्त में अहिंसा धर्म की महिमा से अवभूत हो रहे थे, तभी उन मुनिराज सुदत्ताचार्य ने उन्हीं मुर्गा-मुर्गी का उदाहरण देते हुए कहा– देखो ! यह पिंजरे में बंद मुर्गा-मुर्गी हैं – यह अपने पिछले भव में क्रमशः पुत्र व माता थे। पुत्र का जीव तो इस उज्जैनी नगर का राजा यशोधर था तथा माता का जीव उसकी माँ थी। यशोधर मेरा मित्र था, इसने अपनी माँ के आग्रह से आटे का मुर्गा बनाकर उसमें जीवित मुर्गे का संकल्प करके उसे देवी चण्डिका के समक्ष चढ़ाने हेतु मारा था और इसकी माता ने उसकी अनुमोदना की थी।

इस महापाप के फलस्वरूप ये दोनों जीव क्रमशः मयूर-कूतरी, नेवला-सर्प, मगर-मच्छ, बकरा-बकरी, बकरा-भैंसा आदि दुर्गतियों में परिभ्रमण करते हुए, दुःख भोगते हुए अब मुर्गा की पर्याय में जन्मे हैं।

श्री मुनिराज के मुख से अपने पूर्व भवों की बात सुनते ही उन्हें भी अपने पूर्व भवों का जाति-स्मरण ज्ञान हुआ, जिससे वे अपने पूर्व में किये गये पापों का इतना भयंकर फल जानकर पाप से विरक्त हुए तथा उनके चित्त में अहिंसा का अंकुर फूटने लगा। आँख में से झर-झर आँसू बहने लगे। पंखों की फफड़ाहट से वे मुनिराज से अपने उद्धार हेतु विनती करने लगे। जैसे कि मुनिराज से दीक्षा ही मांग रहे हों।

मुनिराज सुदत्ताचार्य भी उस कुक्कुट युगल की शुभ-चेष्टा समझ गये, उन्होंने देखा कि यह दोनों भद्र परिणामी जीव अहिंसा धर्म का उपदेश सुनकर उसका पालन करने के लिए अति-उत्साही हो रहे हैं। अतः उन्हें सम्बोधन करते हुए बोले – हे भद्रजीवो ! तुम घबराओ नहीं, अब तुम्हारे दुःखों का अन्त समय आ गया है। जैनधर्म के प्रताप से तुम्हें अहिंसा धर्म का प्रेम जागृत हुआ है और हिंसा रूपी पापों से तुम्हारा चित्त विरक्त हुआ

है। अत: अब तुम अहिंसाणुव्रत का शान्त चित्त से पालन करो। कभी भी किसी भी जीव को मारने का भाव मत करना।

कुक्कुट युगल ने भी प्रसन्न चित्त से गर्दन झुकाकर मुनिराज की बात को स्वीकार किया।

इसप्रकार इन दोनों भव्य जीवों को संबोधन कर मुनिराज सुदत्ताचार्य अन्य स्थान के लिए विहार कर गये।

जब अहिंसा धर्म की प्राप्ति से वे दोनों आनन्दित होकर हर्षभरी चेष्टा कर रहे थे। तभी (इनके पूर्वभव का पुत्र) उद्यान में आते हुए यशोमति राजा ने दूर से ही उन मुर्गों की आवाज सुनकर अपनी शब्दभेदी बाण चलाने की कला रानी को दिखाने के लिए उसने ऐसा लक्ष्यभेदी बाण चलाया कि वे दोनों कुक्कुट युगल एक ही तीर में एक साथ विंध गये।

अरे ! इन राजा-रानी को क्या खबर है कि यह जीव तो एक समय इसी भव में मेरे पिता एवं पितामही थे। भली होनहार के योग से वे दोनों मरकर उन्हीं राजा यशोमति की रानी के गर्भ में युगल भाई-बहिन के रूप में जन्मे ! अर्थात् अपने पुत्र का ही पुत्र हुआ।

अपने पूर्व भवों के दु:ख की कथा को सुनाते हुए क्षुल्लक अभयरुचि मारिदत्त राजा से कहते हैं कि हे राजन् ! यशोमति राजा के वे पुत्र-पुत्री हम ही हैं। हम सहोदर भाई-बहिन हैं।

जब हम रानी कुसुमावती के गर्भ में आये तभी से रानी को ऐसे भाव जागृत हुए कि "मैं सर्व जीवों को अभयदान दूँ।" इसी कारण उन्होंने मेरा नाम अभयरुचि एवं मेरी इस बहिन का नाम अभयमति रखा।

राजा मारिदत्त आश्चर्य प्रकट करते हुए बोला – अरे ! तुम तो मेरे भानजे-भानजी हो। रानी कुसुवामती तो मेरी बहिन है। तुम्हें देखकर मेरे हृदय में प्रेम उमड़ रहा है। और तुम्हारी पूर्वभव की कथा सुनकर मेरा चित्त भी जीवहिंसा से डर रहा है। अर्थात् अब मुझे भी जीव हिंसा से डर लगने लगा है, मुझे अहिंसा के प्रति बहुमान एवं आदर के साथ प्रीति हो गई है।

हे बालको ! तुम अभी इतनी छोटी उमर में संसार को छोड़कर मुनिसंघ के साथ क्यों रहते हो ?

सुनो राजन् ! हमें धर्म में लगाने वाले महा-उपकारी वे सुदत्त महाराज कई वर्षों के बाद जब पुन: उज्जैनी नगरी में पधारे, तब राजा यशोमति उनके दर्शन करके अत्यंत प्रभावित हुआ और पूछा कि हे स्वामी ! मेरे पितामह राजा यशोरथ तथा पितामही रानी चन्द्रमती अभी कहाँ हैं ? तथा मेरे माता-पिता अमृतमती और यशोधर कहाँ हैं ?

तब श्री मुनिराज सुदत्ताचार्य ने कहा – हे भव्य सुनो, तुम्हारे दादा यशोरथ का जीव तो अभी देवलोक में है तथा दुराचारी माता अम्रता का जीव नरक में है। और तुम्हारे पिता तथा पितामही आटे का मुर्गा बनाकर उसका संकल्प पूर्वक यज्ञ में बलिदान करने के कारण तिर्यंचगति के कई जन्मों में दु:ख भोगने के बाद मुर्गा-मुर्गी भव में थे, तब दोनों तेरे ही बाण से विंध कर मरण को प्राप्त हुए और तेरी रानी के गर्भ से ही उत्पन्न होकर अभी तेरे ही (अभय तथा अभया) पुत्र-पुत्री हैं। तुम्हारे इस भव में ही जो तेरे पिता और दादी माँ थे, वे ही अभी तेरे पुत्र और पुत्री हैं। अहिंसा धर्म के प्रताप से इन दोनों का तिर्यंचगति से उद्धार हुआ है।

यह सम्पूर्ण वृत्तांत सुनकर राजा यशोमति को अपने दुष्कृत्य पर अत्यंत पछतावा हुआ और उन्हें मुनिराज से दीक्षा लेने का भाव जागा। उन्होंने घर जाकर यह सम्पूर्ण वृत्तांत हम सबको सुनाया। हमें अपने पूर्व भवों का वृत्तांत सुनकर पूर्वभवों का जातिस्मरण हुआ। उस समय हमारी (भाई-बहिन की) उम्र ८ वर्ष की थी, हमने मुनि तथा आर्यिका के व्रत धारण करने का विचार किया; परन्तु हमारी कम उम्र को देखते हुए आचार्य महाराज ने हमें दीक्षा तो नहीं दी। परन्तु श्रावक के उत्तम व्रत प्रदान किये। उन व्रतों का पालन करते हुए हम सुदत्ताचार्य महाराज के साथ संघ में रह रहे हैं। विहार करते हुए आज जब हम नगरी में आ रहे

थे तभी तुम्हारे सेवक हमें तुम्हारें पास ले आये। इसके बाद क्या हुआ ? वह तो तुम्हारे को पता ही है।

अपने भानजा-भानजी की इतनी छोटी उम्र में वैराग्य कथा सुनाकर राजा मारिदत्त का परिणाम एकदम पलट गया। तब उसने हिंसा यज्ञ बंद करने का आदेश दिया, हिंसा के लिए इकठ्ठे किये गये सभी जीवों को छोड़ दिया और स्वयं सुदत्ताचार्य महाराज के पास जाने को तैयार हो गया।

यह सब सुदत्ताचार्य महाराज अपने अवधिज्ञान से जानकर और धर्मप्रभावना का हेतु समझकर स्वयं ही वहाँ आ पहुँचे।

राजा तथा हजारों प्रजाजनों ने उनका सम्मान किया तथा महाराज ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश का सार इसप्रकार है –

"जो आत्मा को दुर्गति में ले जाकर दुःखित करती हैं, उन्हें (क्रोधादि को) कषाय कहते हैं अथवा जैसे वटवृक्ष आदि के कसैले रस विशुद्ध वस्तु को कलुषित (मलिन) करने वाले हैं, वैसे ही क्रोधादि कषाय भी विशुद्ध आत्मा को कलुषित (मलिन) करने में कारण हैं; अतः कसैले रस-सरीखी होने के कारण इन्हें कषाय कहते हैं। वे कषाय चार प्रकार की हैं – क्रोध, मान, माया व लोभ।

क्रोध – अपने या दूसरों के अपराध से अपना या दूसरों का नाश (घात) होना या नाश करना क्रोध है अथवा अशुभभावों का उत्पन्न होना क्रोध है।

मान – विद्या, विज्ञान व ऐश्वर्य – आदि के घमण्ड में आकर पूज्य पुरुषों की आज्ञा का उल्लंघन करना अर्थात् उनका आदर-सत्कार न करना मान है अथवा युक्ति दिखा देने पर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ना मान है।

माया – दूसरों को धोखा देने के अभिप्राय से अथवा अपनी

कीर्ति, आदर-सत्कार और धनादि की प्राप्ति के अभिप्राय से मन, वचन व काय की कुटिल प्रवृत्ति करना माया है।

लोभ – चेतन स्त्री पुत्रादिक में और अचेतन धन-धान्यादि पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार की चित्त में उत्पन्न हुई विशेष तृष्णा को लोभ कहते हैं अथवा इन पदार्थों की वृद्धि होने पर जो विशेष सन्तोष होता है और उनके विनाश होने पर जो महान असन्तोष होता है, उसे लोभ कहते हैं।

कषायों के भेद – इस प्रकार ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ हैं – अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

कषायों का स्वरूप –

जो सम्यक्त्व गुण का घात करती हैं, अर्थात् – सम्यग्दर्शन को नहीं होने देतीं, उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

जो सम्यक्त्व का घात न कर श्रावकों के देशव्रत (एकदेश चारित्र) को नष्ट करती हैं, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय हैं।

जो कषाय सम्यग्दर्शन व देशव्रत को न घातकर मुनियों के सकल चारित्र को घातती हैं, उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्र को नहीं होने देतीं वे संज्वलन कषाय हैं।

शक्ति की अपेक्षा कषायों के भेद –

चारों क्रोध-आदि कषायों में से प्रत्येक के शक्ति की अपेक्षा से भी चार-चार भेद हैं।

पत्थर की लकीर-सरीखा क्रोध, पृथ्वी की लकीर-सरीखा क्रोध, धूलि की लकीर-सरीखा क्रोध और जल की लकीर-सरीखा क्रोध। इनमें से पत्थर की लकीर-सरीखा उत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध तो नरकगति में ले जाता है। पृथ्वी की रेखा-सरीखा क्रोध जीव को तिर्यंचगति में ले जाता है। धूलि की रेखा जैसा क्रोध जीव को मनुष्यगति में ले जाता है और जल की रेखा-सरीखा जघन्य शक्तिवाला क्रोध जीव को देवगति में ले जाता है।

मान कषाय के भी शक्ति की अपेक्षा चार भेद हैं – पत्थर के खम्भे के समान, हड्डी के समान, गीली लकड़ी के समान और वेंत के समान। जैसे – पत्थर का खम्भा कभी नहीं नमता वैसे ही जो मान जीव को कभी विनीत नहीं होने देता, वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान जीव को नरकगति में जाने का कारण है। हड्डी-जैसा मान जीव को तिर्यंचगति में ले जाने का कारण है। थोड़े समय में नमने-योग्य गीली लकड़ी जैसा अनुत्कृष्ट शक्ति वाला मान जीव को मनुष्यगति में उत्पन्न होने का कारण है और जल्दी नमने-लायक वेंत-सरीखा मान जीव को देवगति में ले जाने का कारण है।

इसी तरह बाँस की जड़, बकरी के सींग, गोमूत्र और चामरों जैसी माया क्रमशः चारों गतियों में उत्पन्न कराने में निमित्त होती है अर्थात् जैसे बाँस की जड़ में बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं, वैसे ही प्रचुर छल-छिद्रों वाली व उत्कृष्ट शक्ति वाली माया जीव को नरकगति की कारण है। बकरी के सींगों-सरीखी कुटिल माया तिर्यंचगति की कारण है और गोमूत्र-जैसी कम कुटिल माया मनुष्यगति की कारण है और चामरों-सरीखी माया देवगति की कारण है।

किरमिच के रंग, नील के रंग, शरीर पर मैल के लेप और हल्दी के रंग-सरीखा लोभ शेष कषायों की तरह किस जीव के संसार का कारण नहीं होता ? अर्थात् – किरमिच के रंग-जैसा पक्का तीव्र लोभ नरकगतिरूप

संसार का कारण है। नील के रंग-जैसा लोभ तिर्यंचगति का कारण है और शरीर पर मैल के लेप जैसा लोभ मनुष्यगति का कारण है एवं हल्दी के रंग-सरीखा लोभ देवगति का कारण है।

क्रोध का दुष्परिणाम – जिस प्रकार अपथ्यसेवी रोगी का औषधि-सेवन व्यर्थ है, उसी प्रकार क्रोधी मानव के धर्मध्यान, श्रुताभ्यास व संयम व्यर्थ हैं।

मान से हानि – मानरूपी दावानल अग्नि से भस्म हुए और मदरूपी खारी मिट्टी से कषायले रस वाले मनुष्यरूपी वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले नये अंकुर नहीं उगते अर्थात् जैसे दावानल अग्नि से जले हुए व खारी मिट्टी के कषायले रसवाले वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले अंकुर नहीं उगते, वैसे ही घमण्डी व अहंकारी मानव से सद्गुण प्रकट नहीं होते।

माया से हानि – जब तक जीव रूपी जलराशि में माया (छल-कपट) रूपी रात्रि का लेशमात्र भी निवास रहता है, तब तक उसका मनरूपी कमल-समूह विकास-लक्ष्मी को धारण नहीं करता।

लोभ से हानि – जैसे पथिक लोक में गड़ी हुई हड्डियों के चिन्हों वाली चाण्डालों की सरसी (तलैया) दूर से ही छोड़ देते हैं, वैसे ही प्रशस्त ज्ञानादि गुण, लोक में लोभरूपी हड्डियों के चिन्होंवाले मानवों के चित्तरूपी झरनों को दूर से ही छोड़ देते हैं अर्थात् लोभी व्यक्ति के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं।

मनुष्य-कर्तव्य – अतः आत्मज्ञानी पुरुष को अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए संयमरूपी कीलों द्वारा अपने मनरूपी गृह से इन क्रोध, मान, माया व लोभरूपी चारों शल्यों को निकालने या यत्न करना चाहिए।

छह इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र व मन) स्वभाव से ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, अतः उन विषयों के स्वरूप

को जानकर सदा इन्द्रियों को उनके विषयों से पराङ्मुख करना चाहिए अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों में फँसने से बचाना चाहिए।

जब आत्मा ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ग्रस्त (व्याकुल या फँसी हुई) होता है, तब उस आत्मा को कल्याण की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? जो कि विष-सरीखे तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं, अर्थात् जैसे विष भक्षणकाल में मिष्ट प्रतीत होता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषय भी तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं और जो फलकाल में वैसे ही दुर्गति के दु:ख देने वाले हैं, जैसे भक्षण किया हुआ विष उत्तरकाल में घातक होता है।

व्रती-कर्तव्य – व्रती पुरुष को अपने व्रतों को विशुद्ध रखने के लिये दुष्ट मन के आधार से दूसरे का बुरा चिन्तवन नहीं करना चाहिये। वचन के आधार से असत्य, निन्दा व कलहकारक वचन नहीं बोलना चाहिए और शरीर के आश्रय से बुरी चेष्टा (हिंसा आदि) नहीं करना चाहिए। व्रती द्वारा जो व्रत ग्रहण किये गये हैं, उनमें न तो अतिचार लगाना चाहिए और न व्रतों को खण्डित करना चाहिए। इस प्रकार से जो व्रतों की रक्षा की जाती है उसे ही व्रतों का पालन कहा जाता है।

व्रती को सदा वैराग्य की भावना करना चाहिए। सदा तत्त्वों का चिन्तवन करना चाहिए और यम व नियमों के पालन में सदा तत्पर रहना चाहिए।

वैराग्य-आदि का स्वरूप – प्रत्यक्ष से देखे हुए (राज्यादि वैभव) व आगम में निरूपण किये हुए (स्वर्गादि भोगों) की लालसा से रहित हुए साधु या श्रावक का मन को वश करना वैराग्य है। प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण से जाने हुए पदार्थों का ऐसा स्मरण करना तत्त्वचिन्तन है, जो कि उल्लंघन करने के लिए अशक्य स्वभाव वाला है। बाह्य व

आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और ध्यान को यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये नियम हैं।

इस प्रकार हे मारिदत्त महाराज ! हमने यह गृहस्थ-धर्म कहा और मूलगुण व उत्तर गुणोंवाला मुनिधर्म आगम से जानना चाहिए।"

इस प्रकार उस चण्डमारी देवी, मारिदत्त महाराज और नगरवासी जनों ने सुदत्ताचार्य से श्रावक व मुनिधर्म विषयक व कथाओं के अवतरण-वाले और अभयरुचि क्षुल्लक व उनकी बहिन अभयमति क्षुल्लिका के आचरण वाले धर्म को सुनकर अपनी पर्याय व परिणामों के अनुसार सभी ने अपने-अपने योग्य धर्म ग्रहण किया।

उस क्षुल्लक जोड़े ने भी क्रम से कुमारकाल व्यतीत करते हुए चिरकाल तक ऐसा चारित्र (मुनिधर्म व आर्यिका-धर्म) पालन किया, जो कि स्वर्गलोक में स्थापित करने वाला है और जो मुनिवेष (दिगम्बर मुद्रा) व आर्यिकावेष में कहे हुए अनेक भेदोंवाले तपरूपी महल पर कलश स्थापित करने वाला है।

अपनी छोटी बहिन (अभयमति क्षुल्लिका) सहित अभयरुचि क्षुल्लक ने उस चण्डमारी देवी के वन के एकान्त स्थान पर यथाविधि समाधिमरण करके ऐशानकल्प नाम का दूसरा स्वर्ग प्राप्त किया और श्री सुदत्ताचार्य से धर्म श्रवण करके श्रावक धर्म धारण करने वाले मारिदत्त राजा ने भी उसी तरह स्वर्ग-लक्ष्मी का विलास प्राप्त किया।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूपी दोनों रत्नों से विभूषित मनोवृत्तिवाली चण्डमारी देवी ने भी श्री सुदत्ताचार्य की पूजा की और वह ऐसे जिन-चैत्यालयों की वन्दना करने की अनुमति-युक्त इच्छा में तत्पर हुई, जो कि दूसरे धातकी खण्ड-आदि द्वीपों पर व सुमेरुपर्वत पर अथवा ज्योतिषी आदि देव विमानों में स्थित हैं।

धन्यकुमार चरित्र

अहो ! देवता भी शिवसुख की प्राप्ति के लिये जिस उज्जयिनी नगरी में जन्म लेना चाहते हों, उस उज्जयिनी नगरी के गुणों का वर्णन कैसे सम्भव है ? उसी उज्जयिनी नगरी में धर्मबुद्धि और धर्मात्माओं के प्रति प्रेम रखने वाला 'अवनिपाल' नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में सरल स्वभावी 'धनपाल' नामक एक वनिक (सेठ) रहता था। उसके अनेक शुभ लक्षणों वाली 'प्रभावती' नामक पत्नी थी। इनके परस्पर में प्रेम करने वाले सात पुत्र थे।

तत्पश्चात् प्रभावती ने आठवें पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म के समय जब उसकी नाल को जमीन में गाड़ने गये तो वहाँ जमीन में से रत्नों का खजाना प्राप्त हुआ।

रत्नों का खजाना मिलने पर पिता धनपाल आदि इस आश्चर्य को देखकर राजा अवनिपाल के पास गये, और कहा – हे नाथ ! मेरे यहाँ उत्तम पुत्र का जन्म हुआ है और उसकी नाल गाड़ते समय मुझे बड़ा खजाना मिला है। यह सुनकर महाराज बोले कि हे श्रेष्ठी ! जिस पुत्र के

पुण्य से धन निकला है, वही इसका मालिक है, मुझे प्रजा के किसी धन की अभिलाषा नहीं है।

महाराज की इस प्रकार की निस्पृहता देखकर धनपाल को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने घर जाकर पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में जिनमन्दिरों में कल्याण के कारणभूत और विघ्न विनाशक जिनेन्द्र भगवान की महापूजा की, कुटुम्बीजनों तथा याचकजनों को अनेक प्रकार का दान देकर सन्तुष्ट किया। पुण्यशाली पुत्र जन्म से परिजनों के धन्य व कृतार्थ होने के विचार से पुत्र का सार्थक नाम भी 'धन्य कुमार' रखा। वह पुत्र माता-पिता आदि को आनन्दित करता हुआ देवकुमारों की भांति क्रम से वृद्धिंगत होने लगा।

उसे कुमार अवस्था प्राप्त होने पर देव-गुरु और साधुओं की परिचय कराके विद्या – कला आदि के अभ्यास के लिये विद्यागुरु के समीप रखा गया, फलस्वरूप उसने थोड़े ही काल में सभी प्रकार की विद्यायें प्राप्त कर लीं। वह कुमार अवस्था में भी निर्लोभी रहकर निरंतर देव-गुरु-धर्म के लिये प्रचुर धन खर्च करता था और दीन-अनाथ आदि को दान देता था।

इस प्रकार निरंतर उदारता से धन खर्च करना, उसके बड़े भाईयों को सहन नहीं हुआ; उन्होंने एक दिन माता से कहा कि हम सब मेहनत करके धन कमाते हैं और धन्यकुमार उसे खर्च करता रहता है और वह कोई व्यापार भी नहीं करता।

उनकी बात सुनकर प्रभावती ने धनपाल से कहा कि अब धन्यकुमार युवा हो गया है; किन्तु फिर भी आप उसे व्यापार में नहीं लगाते, इस कारण उसके बड़े भाई भी उससे द्वेष करते हैं।

अपनी पत्नी के कहे अनुसार सेठ धनपाल शुभ मुहुर्त में पुत्र धन्यकुमार को बाजार ले गये और कहा – पुत्र ! अपने पास यह एक सौ

दीनार रखो, और बाजार में कोई अच्छी वस्तु बिकने के लिये आवे तो उसे खरीद लेना और उस खरीदी हुई वस्तु से अन्य कोई अच्छी वस्तु बिकने आवे तो उसे खरीद लेना। इस प्रकार भोजन के समय तक खरीदना और भोजन के समय उस वस्तु को नौकरों के साथ लेकर घर आ जाना। इसप्रकार पिता ने शिक्षा देते हुये उसे एक सौ दीनार व्यापार के लिए दे दी।

सरलहृदय धन्यकुमार बाजार में खड़ा है। वहाँ लकड़ी की गाड़ी बिकने हेतु आई तो धन्यकुमार ने एक सौ दीनार देकर उसे खरीद ली और फिर लकड़ी की गाड़ी को बेचकर एक .... खरीदा, तत्पश्चात् उसे बेचकर दूसरे के पास से एक चारपाई-खाट-खरीद ली और भोजन का समय हो जाने से नौकर द्वारा चारपाई उठवाकर धन्यकुमार घर आ गया। उसे घर आया देखकर माता बहुत आनन्दित हुई और कहने लगी कि आज धन्यकुमार पहले दिन व्यापार करके घर आया है, अत: उत्सव करना चाहिये।

धन्यकुमार द्वारा लाई हुई लकड़ी की चारपाई को देखकर सातों बड़े भाई कहने लगे, कि वाह ! कैसी आश्चर्य की बात है कि पिता ने आज ही एक सौ दीनारें दी थीं, जिसे गँवाकर धन्यकुमार घर आया है फिर भी हमारी माता उत्सव कर रही है, जबकि हम तो रोजाना बहुत-सा धन कमाकर लाते हैं तो भी हमारी तरफ देखती भी नहीं। अरे ! इसमें इसका क्या दोष है ? हमारे पूर्वोपार्जित कर्मों का ही दोष है।

माता ने प्रसन्नचित्त से सातों पुत्रों के इस वचन को हृदय में रख लिया और समस्त पुत्रों से पूर्व धन्यकुमार को भोजन कराकर स्वयं ने भी भोजन कर लिया। फिर एक मोटे बर्तन में पानी भरकर अपने ही हाथ से उत्साहपूर्वक चारपाई के पाये धोने-पोंछने लगी, धोते-पोंछते एक कील से एक पुराना धब्बा मिटाते समय चारपाई का एक पाया टूट गया।

धन्यकुमार के प्रचुर पुण्योदय से उसमें से रत्न बिखरने लगे, साथ ही एक पत्र भी निकला, जिसमें लिखा था कि –

"इस नगरी में पुण्यशाली, महाधनी वसुमित्र राजश्रेष्ठी हो गये हैं। उनके प्रचुर पुण्योदय से उनके यहाँ समस्त भोगोपभोग सम्पदा को देने वाली नवनिधि उत्पन्न हुई थी। एक दिन वसुमित्र ने उपवन में पधारे हुये अवधिज्ञानी मुनिराज से जाकर पूछा कि प्रभो ! ऐसा कौन पुण्यवान नररत्न उत्पन्न होगा कि जो इन नवनिधि का स्वामी होगा ? मुनिराज ने अवधिज्ञान से देखकर कहा कि महाराज अवनिपाल की उत्तम राजधानी में धनपाल सेठ के यहाँ धन्यकुमार नामका पुत्र उत्पन्न होगा। वही पूर्वोपार्जित पुण्योदय से इस नवनिधि का स्वामी होगा और उसके द्वारा लोगों को बहुत सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार अवधिज्ञानी मुनिराज का वचन सुनकर वसुमित्र सेठ ने घर जाकर एक पत्र लिखकर उत्तम रत्नों के साथ में चारपाई के पायों में रखकर उन्हें बंद कर दिया। कुछ समय पश्चात् सेठ वसुमित्र समाधिमरण पूर्वक स्वर्ग सिधारे और उनके पीछे परिवारजन भी मरण दशा को प्राप्त हुये। उनमें से जो सबसे अन्तिम मनुष्य मरण को प्राप्त हुआ उसे जलाने

के लिये चारपाई सहित श्मशान में ले गये और वह चारपाई चाण्डाल को प्राप्त हुई, जिसे पुण्योदय से धन्यकुमार ने चाण्डाल से खरीद ली।

अहो ! पुण्योदय से अत्यन्त दुर्लभ वस्तु भी बिना प्रयत्न के चरणों में आ पड़ती है।

धन्यकुमार चारपाई से प्राप्त पत्र को पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उस पत्र को लेकर राजा के समीप गया। राजा ने पत्र में लिखे अनुसार समस्त निधियाँ धन्यकुमार के सुपुर्द कर दी। धन्यकुमार ने उत्कृष्ट नवनिधियों को अपने अधिकार में लेकर सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु की महापूजा में अतिशय धन खर्च किया और भक्तिपूर्वक सत्पात्रों को दान दिया तथा दीन-दुखियों को इच्छित दान दिया।

इस प्रकार के महान पुण्योदय से धन्यकुमार परिजनों तथा पुरजनों को अत्यन्त प्रिय होने लगा और ग्राम के अन्य श्रेष्ठी अपनी सुन्दर कन्याओं का सम्बन्ध उसके साथ करने हेतु तत्पर होने लगे; परन्तु धन्यकुमार का इस प्रकार का अभ्युदय उसके बड़े भाइयों से सहन नहीं हुआ – इस कारण वे उससे ईर्ष्या करने लगे और उसे मार डालने के षडयंत्र रचने लगे, किन्तु सरल चित्त धन्यकुमार उनके इस दुष्ट अभिप्राय से अनजान था।

एक दिन सातों बड़े भाई धन्यकुमार को मार डालने के अभिप्राय से उपवन की वापिका में जल क्रीड़ा के लिये ले गये और वापिका के किनारे पर बैठे हुये धन्यकुमार को बड़े भाइयों ने पीछे से धक्का देकर वापिका में गिरा दिया व ऊपर से पत्थरों की मार मारने लगे। उस समय धन्यकुमार ने णमोकार मंत्र के स्मरण किया और इसे पूर्व कर्म का उदय समझकर धैर्य धारण कर किया। बड़े भाई इसे मरा हुआ जानकर वहाँ से चले गये। पश्चात् धन्यकुमार अपने पुण्योदय से बच गये, तब बाहर निकलने पर अपने बड़े भाइयों की दुष्टता पर विचार कर यह निर्णय किया

कि अब घर जाकर दुष्ट भाइयों के साथ रहना योग्य नहीं है। ऐसा विचार कर धन्यकुमार अन्य देश के लिये रवाना हो गये। चलते-चलते एक खेत में किसान को हल चलाते देख उसे आश्चर्य हुआ कि यह किस जाति की विद्या है ? मैंने तो कभी ऐसी विद्या देखी नहीं – इस प्रकार उसे देखते-देखते वे अपनी थकान दूर करने के विकल्प से वहीं बैठ गये।

किसान धन्यकुमार को थका हुआ देखकर उनके हाल-चाल पूँछने उनके पास गया, तथा धन्यकुमार को देखकर आश्चर्य में पड़ गया और विचारने लगा कि 'अवश्य ही यह कोई महापुरुष है' अतः उसने धन्यकुमार को अपना अतिथि मानकर उनसे निवेदन किया –

हे सज्जोत्तम ! मेरे पास शुद्ध दही और भात है, उन्हें आप कृपा करके स्वीकार करें, आप मेरे अतिथि हैं। धन्यकुमार की स्वीकृती पाकर किसान को बहुत प्रसन्नता हुई और वह दही-भात परोसने के लिये पात्र (पत्तल) लेने चला गया। इधर कोतुहलवश धन्यकुमार ने हल चलाया तो हल का काँटा एक विशाल सोने की मोहरों से भरे हुये बर्तन से टकराया। उसे देखकर धन्यकुमार को लगा कि अरे ! ऐसे अपूर्व विज्ञानाभ्यास से बस होओ ? यदि इस विशाल धन को किसान देख लेगा तो वह भी भाइयों की तरह दुष्ट वर्ताव करेगा।

– ऐसा विचार कर उस धन के खजाने पर मिट्टी डाल दी और वापिस यथास्थान आकर बैठ गये।

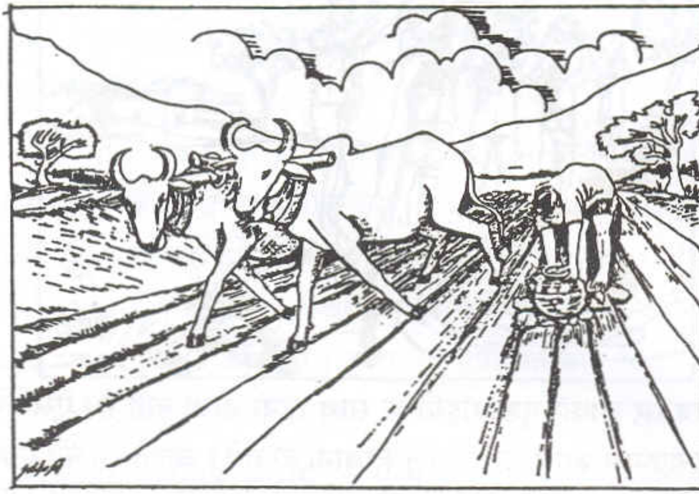

इतने में ही किसान पत्र (पत्तल) लेकर आ गया और शुद्ध जल से उसे साफ करके दही-भात का भोजन धन्यकुमार को कराकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कुमार भी भोजन करके राजगृह नगर का मार्ग पूछकर वहाँ से रवाना हो गये।

धन्यकुमार के जाने के जब बाद किसान पुनः हल चलाने लगा, तब उसकी नजर धन से भरे खजाने पर पड़ी। उसे देखकर किसान को आश्चर्य हुआ कि अहो ! यह धन इन भाग्यशाली के भाग्य से निकला है – इस कारण इसका स्वामी वही भाग्यशाली पुरुष है। अतः यह धन मुझे स्वीकारना योग्य नहीं है।

अहो ! देखो, किसान गरीब है, फिर भी उसमें कितनी निर्लोभता और सज्जनता है कि अपने खेत में से इतना बड़ा खजाना मिलने पर भी मैं उसका स्वामी नहीं, किन्तु भाग्य से निकला है अतः वही उसका मालिक है। ऐसा मानता है।

वह किसान धन्यकुमार के पीछे-पीछे आवाज लगाता हुआ

दौड़ता है। कुमार भी किसान की आवाज सुनकर खड़े रहते हैं। किसान धन्यकुमार के समीप आकर विनम्रता से कहता है कि हे भाग्यशाली ! आपके पुण्योदय से जो मोटा खजाना निकला है, आप ही उसके स्वामी हैं।

धन्यकुमार ने कहा – हे भाई ! मैं तो अपने साथ कुछ लाया नहीं, मैंने तो तुम्हारे दही-भात खाये हैं। जो धन तुम्हारे खेत में से निकला है तुम्हीं उसके मालिक हो, मैं नहीं। तब किसान बोला कि हम अपने बाप-दादा के जमाने से यह खेत जोतते हैं, परन्तु धन का ऐसा खजाना कभी नहीं मिला। अत: आज जो खजाना निकला है, वह तो आपके पुण्योदय से ही निकला है – इस कारण इसके स्वामी आप ही हैं। तब धन्यकुमार ने कहा कि भले ही ऐसा हुआ हो; परन्तु यह धन का खजाना मैं तुम्हें भेंट देता हूँ, तुम उसे स्वीकार करो। इस बात को सुनकर किसान ज्यादा कुछ नहीं बोल सका, मात्र इतना ही कहा कि 'इस दास के योग्य कोई कार्य-सेवा हो तो अवश्य याद करना।' – ऐसा कहकर वे दोनों अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं।

राजगृही चलने के लिये आगे बढ़ते-बढ़ते धन्यकुमार अपने महाभाग्य से एक अवधिज्ञानी मुनिराज को एकान्त स्थान में बैठे देखते हैं। मुनिराज के दर्शन से धन्यकुमार को बहुत प्रसन्नता होती है।

मुनिराज को वंदन करके वे उनसे धर्म का स्वरूप पूछते हैं, जिसके उत्तर में मुनिराज विस्तार से धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। उसे सुनकर धन्यकुमार बहुत आनन्द आता है। तत्पश्चात् वे मुनिराज से पूछते हैं कि प्रभो ! मुझे किस पुण्योदय से धन के खजाने मिलते हैं और माता अत्यधिक प्रेम करती है तथा किस पापोदय के कारण भाई मुझसे द्वेष करते हैं – यह सब कृपा करके कहो ?

मुनिराज धन्यकुमार को आसन्नभव्य जानकर उनके पूर्वजन्म की कथा कहते हैं –

हे भव्य ! तू चित्त को स्थिर करके अपने पूर्वभव की कथा सुन ! क्योंकि उसे सुनकर तुझे संसार से वैराग्य उत्पन्न होगा और धर्म में रुचि होगी, पापों से डर लगेगा, दान, शील, तप, नियमादि में प्रवर्तन होगा, तेरे पूर्व भव की कथा सुनने से अन्य जीवों का भी उपकार होगा।

मगध देश के अन्तर्गत् भोगावती नाम की एक नगरी थी। उसके स्वामी का नाम कामवृष्टि था और उसकी स्त्री का नाम मृष्टदाना था। उसके घर में सुकृतपुण्य नाम का एक नौकर था। जब मृष्टदाना गर्भवती हुई, तब पापोदय से उसके पति कामवृष्टि का मरण हो गया। तत्पश्चात् ज्यों-ज्यों गर्भ वृद्धिंगत होता गया, त्यों-त्यों उसके परिवार के सभी मनुष्य मरते गये। जब पुत्र का जन्म हुआ, तब मृष्टदाना की माता भी मर गई और पुण्यकर्म भी नष्ट हो गया। अतः बुद्धिमान पुरुषों को अनिष्ट संयोग का प्रधान कारण जो पाप है, उसे प्राण जाने पर भी नहीं करना चाहिये।

जब मृष्टदाना के पास कुछ भी नहीं बचा तो वह उस पापी पुत्र का पेट अनाज पीस-पीसकर भरने लगी। कामवृष्टि के मरणोपरान्त उसका नौकर सुकृतपुण्य पुण्योदय से भोगावती नगरी का स्वामी बन गया।

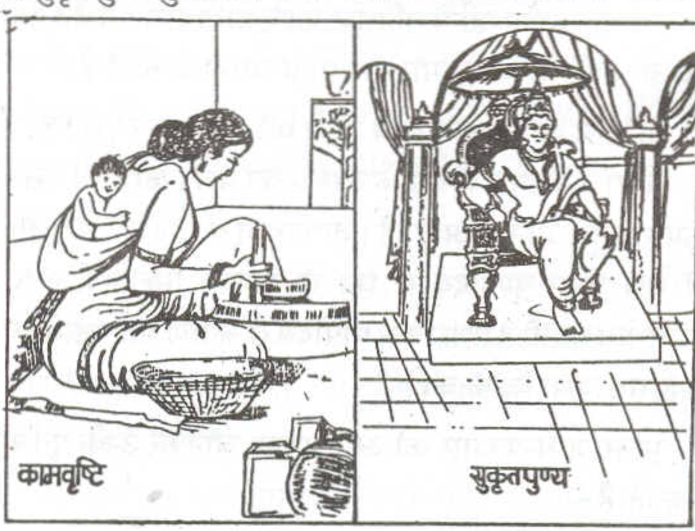

देखो ! इस बालक ने पाप के अलावा कभी पुण्यकर्म नहीं किया – इस कारण उसकी दारुण दुःखदायक दशा हुई। इस कारण से उसकी माता ने अभागे पुत्र का नाम अकृतपुण्य रखा।

इतना सुनकर धन्यकुमार ने मुनिराज से पूछा कि – हे भगवन् ! पापी अकृतपुण्य ने पूर्व में कौन-कौन से पाप किये थे, जिस कारण उसकी ऐसी दुःखदायक दशा हुई।

मुनिराज धन्यकुमार के प्रश्नों का उत्तर देते हुये आगे की कथा कहने लगे –

इसी देश में भूतिलक नाम का सुन्दर नगर था; उसमें महादानी, महाधनी, बुद्धिमान शुभकर्म करने वाला धनपति नाम का एक सेठ रहता था। एक दिन धनपति सेठ को विचार आया कि यह लक्ष्मी तो पुण्योदय से मिली है और इसका सही उपयोग पात्रदान से ही है। परन्तु उत्तम पात्र साधु तो आहार के सिवाय कुछ लेते नहीं। अतः इसका सदुपयोग करने के लिये बड़े-बड़े जिनालय बनवाने चाहिये, जिससे अनेक जीव जिनेन्द्र दर्शन, भक्ति, पूजन आदि करने पधारें तो उन्हें धर्मलाभ प्राप्त हो। दूर-दूर से यात्री दर्शनार्थ आवें। इस प्रकार महान पुण्योपार्जन का कारण होने से जिनमन्दिर बनवाकर विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने से धन की सफलता होती है। – ऐसा विचारकर उसने विशाल जिनमन्दिर बनवाया और उसमें सुन्दर मणि-रत्नों की प्रतिमायें पधराई, जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि हुई।

उसे सुनकर एक दुर्व्यसनी चोर ने लोभ के वशीभूत होकर विचार किया कि इन मणि रत्नों की प्रतिमाओं की चोरी के लिये त्यागी का वेश धारण करने से चोरी में सुगमता रहेगी। इसलिये मायाजाल से कपटपूर्वक ब्रह्मचारी का वेश धारण करके मिथ्या तपश्चरणादि करने लगा और उससे भोले लोगों में उसकी बहुत प्रशंसा होने लगी। गाँव-गाँव में भ्रमण करते

हुये वह कपटी ब्रह्मचारी एकबार भूतिलक नगर में आया और धनपति सेठ ने लोगों के मुख से उसकी प्रशंसा सुनी। इस कारण धनपति सेठ ब्रह्मचारी के पास जाकर विनती करके उसे अपने जिनालय में ले आया। वहाँ उस ब्रह्मचारी ने बगुले की तरह मायाचार के काय क्लेश आदि द्वारा लोगों में मान प्राप्त किया।

एक समय धनपति सेठ ने ब्रह्मचारी से विनती करके कहा कि मैं धन उपार्जन के लिये विदेश जाता हूँ, जब तक मैं वापिस नहीं आऊँ तब तक आप इस जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमाओं की संभाल रखना; परन्तु कपटी ब्रह्मचारी तो कहने लगा कि अरे सेठ ! हम तो त्यागी हैं, ऐसी उपाधि में हमारा काम नहीं है। फिर भी सेठ अत्यन्त आग्रह पूर्वक ब्रह्मचारी को सब सौंपकर परदेश चला गया।

सेठ के परदेश जाते ही कपटी वेशधारी को मौका मिल गया। उसने जिनालय के कीमती उपकरणों को व्यसनादि के लिये खर्च कर दिया। परन्तु ऐसे पाप कब तक छिपे रहते ? उसके सम्पूर्ण शरीर में कोढ़ का रोग फूट निकला, जिससे उसे महापीड़ा होने लगी। शरीर महादुर्गन्धमय हो गया। सत्य ही कहा है कि अधिक पुण्य अथवा पाप का फल तुरन्त ही आ जाता है।

अरे, हलाहल जहर खाना तो ठीक है, क्योंकि वह तो एक ही भव में प्राण हरता है; परन्तु निर्माल्य द्रव्य खाने से तो अनन्त भव बिगड़ते हैं। इस बात को ध्यान में लेकर बुद्धिमानों को देव-शास्त्र-गुरु का निर्माल्य द्रव्य कभी नहीं लेना चाहिये।

ब्रह्मचारी कोढ़ की भीषण वेदना में वहाँ रहता था। ऐसे में सेठ धनपति विदेश यात्रा से घर वापिस आ गया। उसे देखकर ब्रह्मचारी का क्रोध भभक उठा कि अरे पापी सेठ परदेश में मरा नहीं और घर वापिस आ गया। इस प्रकार क्रोध ही क्रोध में उसकी रोग की वेदना बढ़ गई और महारौद्रध्यान से महाकष्ट से प्राण छोड़कर वह सातवें नरक में गया।

वहाँ जाकर विचारता है कि अरे ! इन घोर दुःखों का अन्त कब आयेगा ? – ऐसा विलाप करता है। इस तरह सातवें नरक के दुःख तैंतीस सागर तक सहन करके महामच्छ हुआ और वहाँ भी अत्यन्त कठोर पाप किये, फिर सातवें नरक में गया , महादुःख भोगकर वहाँ से निकलकर त्रस-स्थावर योनियों में बहुत काल तक भ्रमण किया और वहाँ से निकलकर अकृतपुण्य हुआ।

मुनिराज कथा को आगे बढ़ाते हुये कहते हैं कि – वह अकृतपुण्य एक दिन सुकृतपुण्य के खेत पर गया और सुकृतपुण्य की खुशामद करके कहने लगा कि दूसरे लोग तुम्हारे खेत में से चने उखाड़ते हैं, यदि मैं भी उखाड़ूँ तो मुझे क्या दोगे ?

ऐसे दीन वचन सुनकर सुकृतपुण्य विचारने लगा कि – अहो ! संसार में कर्म की विचित्रता है। जो स्वामी है वह तो नौकर हो जाता है और जो नौकर हो वह स्वामी बन जाता है। हाय ! यह तो मेरे ही सेठ का पुत्र है, परन्तु कर्मोदय से मेरे पास याचना करता है। धिक्कार है ऐसे कर्मों को ! ऐसा विचारकर दया से सुकृतपुण्य ने उसे स्वर्ण से भरा हआ कलश दे दिया; परन्तु अकृतपुण्य के पाप कर्म इतने तीव्र थे कि हाथ में लेते ही

उसे वे कलश अग्नि के अंगारों की तरह जलाने लगे, इससे अकृतपुण्य कहने लगा कि भाई ! तुम दूसरों को तो चने देते हो, तब मुझे ये अंगारे क्यों दे रहे हो ?

इसे देखकर सुकृतपुण्य ने सोचा कि अभी इसके पापकर्म दारुण हैं। अत: उसने कहा कि भाई ! तू मेरे अंगारे मुझे दे दे और जितने चने तुझसे ले जाये जा सकें, ले जा। अकृतपुण्य अपने साथ जितने चने ले जा सका, उतने चने बाँधकर घर ले गया। उसकी माता ने चने देखकर पूछा कि तू चने कहाँ से लाया ?

तब उसने कहा – मैं सुकृतपुण्य के खेत पर काम करने गया था वहाँ से लाया हूँ। यह सुनकर उसकी माता दु:खित हृदय से विचारने लगी कि हाय ! जो सुकृतपुण्य हमारा ही नौकर था, वह मालिक हो गया और हम मालिक थे सो भिखारी हो गये। अहो ! भाग्य की गति न्यारी है। ऐसा विचारकर उसने देशान्तर जाने के लिये चने का नाश्ता बनाया और माता-पुत्र – दोनों अन्य गाँव की ओर रवाना हो गये। दोनों चलते-चलते अवंति देश के सोसवाक गाँव में जा पहुँचे और मार्ग की थकावट दूर करने के लिये उस गाँव के सेठ बलभद्र के घर के सामने जा बैठे।

सेठ बलभद्र ने पूछा कि बहिन ! आप कहाँ से आई हो और कहाँ जाने के लिये निकली हो ? यह सुनकर दु:खी मृष्टदाना रोते-रोते कहने लगी कि भाई ! हम मगध देश से निकले हैं और जहाँ हमारी आजीविका चले वहाँ जाना है। यह सुनकर सेठ बलभद्र को दया आई, उसने कहा कि बहिन ! यदि तुम्हें आजीविका की आवश्यकता है तो यहीं मेरे यहाँ ही रहो और मेरी रसोई बना दिया करो तथा तुम्हारा पुत्र है वह मेरी गायों की चर्या कर दिया करेगा। मैं आपको उचित वेतन व भोजनादि दूँगा। मृष्टदाना ने यह बात स्वीकार कर ली। अत: सेठ ने उनके रहने के लिये अपने ही घर के पीछे की एक झोपड़ी दे दी।

सेठ बलभद्र के सात पुत्र हैं। उनके खाने के लिये प्रतिदिन सवेरे खीर का भोजन बनता है। उसे देख-देखकर अकृतपुण्य भी रोजाना अपनी माता के पास खीर खाने के लिये रोया करता है। माता उसे समझाती है कि तूने पूर्वभव में कोई पुण्य कर्म नहीं किया। अत: मैं तुझे ऐसा उत्तम भोजन कहाँ से लाकर दूँ ? परन्तु अकृतपुण्य तो बालक है, इस कारण रोजाना सेठ के पुत्रों को खीर खाते देखकर माता से खीर माँगता है और खीर नहीं मिलने से रोता है। यह देखकर सेठ के दुष्ट पुत्र उसे मारते हैं। एक बार मारने से उसे अधिक लग गई और उसका मुँह सूझ जाने से विकृत हो गया।

अकृतपुण्य की ऐसी दशा देखकर सेठ बलभद्र ने पूछा कि यह मुख कैसे सूज गया ?

तब उसकी माता ने कहा कि यह खाने के लिये खीर माँगा करता था, परन्तु पाप के उदय से खीर कैसे मिल सकती है ? उसके बदले में आपके पुत्रों ने इसकी यह दशा की है। यह सुनकर सेठ को बहुत दया आई और उसने अकृतपुण्य की माता से कहा कि तू मेरे घर से घी, दूध, चावल और शक्कर अपने घर ले जा और उनकी खीर बनाकर पुत्र की अभिलाषा पूर्ण कर। सेठ के कहे अनुसार वह दूध आदि सामग्री अपने घर लाई और पुत्र से कहा कि आज मैं तुझे खीर बनाकर खिलाऊँगी, तू बछड़ों की टहल करके शीघ्र आ जाना।

अकृतपुण्य प्रसन्नचित्त से बछड़ों की चर्या करने गया और माता के कहे अनुसार जल्दी आ गया। इतने में माता ने खीर बनाकर तैयार कर दी। माता ने अकृतपुण्य से कहा कि बेटा ! मैं पानी भरकर अभी घर आती हूँ। यदि इतने में कोई साधु आवें तो उन्हें जाने मत देना; क्योंकि दान से बहुत पुण्य बँधता है। उत्तम पात्रों को दान देने से अपने को उत्तम भोजन मिला करेगा तथा उत्तम पात्रदान से ही गृहस्थाश्रम की सफलता है। हमने

पहले कभी दान नहीं दिया, इस कारण दरिद्रता के दुःख सहन करने पड़ रहे हैं इत्यादि प्रकार से धार्मिक भावना समझाकर माता घड़ा लेकर पानी भरने गई।

इतने में महान पुण्योदय से अकृतपुण्य को रत्नत्रय के धारक व अनेक ऋद्धियों से विभूषित महापात्र 'सुव्रत' नामक मुनिराज एक माह के उपवास के पारणे के लिये शरीर की स्थिति के लिये बलभद्र के घर की तरफ आते दिखाई देते हैं। यह देखकर अकृतपुण्य शुद्धमन से विचारता है कि अहो ! यह महान साधु महात्मा हैं।

देखो, इनके पास वस्त्रादिक कुछ भी नहीं है। अहो ! मेरे महान पुण्योदय से ये साधु महात्मा पधारे हैं। मैं इनको जाने नहीं दूँगा।

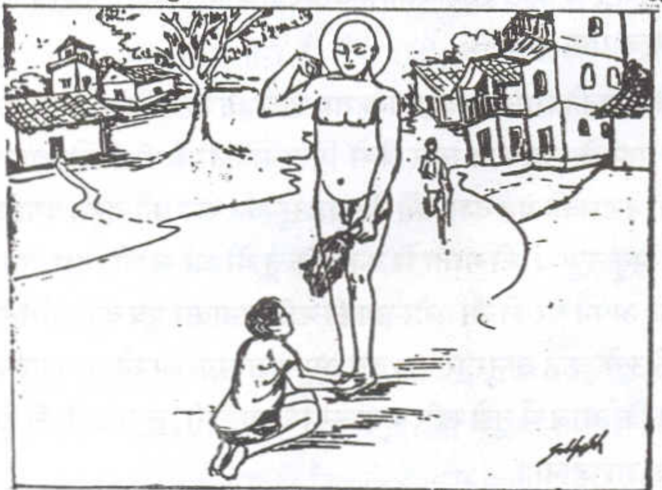

इस प्रकार विचार करते हुये वह मुनिराज के सामने जाकर विनती करने लगा कि – प्रभो ! मेरी माता ने बहुत ही सरस खीर बनाई है वह आपको भोजन में देनी है। मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप यहीं ठहरें। मेरी माता अभी पानी भरकर आती ही है। परन्तु मुनिराज का यह मार्ग नहीं है इसलिये वे धीमे-धीमे आगे बढ़ने लगे।

तब अकृतपुण्य मुनिराज के चरण पकड़ कर अत्यन्त विनय पूर्वक

पुनः बोलता है कि – तात् ! मेरे उपर दया करो, कुछ देर खड़े रहो आप यहाँ से आगे मत पधारो – इस प्रकार प्रार्थना करने लगा। इतने में ही उसकी माता पानी भरकर आ जाती और मुनिराज को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है। जैसे अनायास दुर्लभ धन मिलने से प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता इस समय उसे हुई। उसने तुरन्त अपने सिर से पानी का घड़ा उतारकर मुनिराज के चरणों में नमस्कार किया और हे स्वामी ! नमोऽस्तु...नमोऽस्तु...अत्र...अत्र...अत्र...तिष्ठः, तिष्ठः, तिष्ठः, ठः ठः ठः, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, भूमिशुद्धि, आहार-जलशुद्ध है – ऐसा कहकर मुनिराज का पड़गाहन किया।

तत्पश्चात् मुनिराज को घर में ले जाकर उच्च-आसन पर विराजमान किया और नवधाभक्ति से अत्यन्त हर्षित होकर पुत्र के साथ-साथ माता ने मुनिराज को खीर का आहार कराया। मुनिराज को आहार करते देखकर अकृतपुण्य बहुत ही आनन्दित हुआ – इस कारण उसने महान पुण्य का उपार्जन किया। वह विचारने लगा कि अहो ! आज मैं कृतार्थ हुआ, आज मैं बहुत खुश हुआ हूँ। आज महादान से मेरा जन्म सफल हुआ है। अहो! आज मैं कितना भाग्यशाली हूँ। देव, राजा, महाराजा और विद्याधरों से वंदनीय महापात्र मुनिराज मेरे घर आहार कर रहे हैं। इस प्रकार अकृतपुण्य उल्लासपूर्वक पवित्र भावना से महान पुण्य का उपार्जन करता रहा है।

जितेन्द्रिय योगीराज ने खड़े-खड़े शान्तभाव से पाणिपात्र में आहार करके दाता को पावन किया और शुभ-आशीर्वाद प्रदान कर वन-जंगल की तरफ विहार कर गये। अहा ! देखो बालक की उत्तम भावना ! कि जो खीर के लिये कितने ही समय से रोता था और जैसे-तैसे सेठ की कृपा से खीर मिली तो भी उसने उसे खाने के लिये ऐसी लोलुपता नहीं करता कि यह खीर मुझे बड़ी कठिनाई से मिली है; अतः मैं किसी को नहीं खाने दूँगा, बल्कि सारी ही खीर मैं खा जाऊँगा। परन्तु साधु महाराज को

खीर देने के लिये धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता है और सद्भाग्य से मुनिराज के आ जाने पर निर्लोभता से भक्ति से – उल्लासपूर्वक खीर का दान देकर आनन्दित होता है।

वे मुनिराज अक्षीण ऋद्धि से विभूषित थे – इस कारण मुनिराज का आहार होने से खीर अक्षीण हो गई (चक्रवर्ती की समस्त सेना भोजन करे तो भी उस दिन अक्षय ऋद्धि के कारण भोजन खत्म नहीं होता) जब मुनिराज आहार करके चले गये तो मृष्टदाना ने अकृतपुण्य को बहुत खीर जिमाई और स्वयं भी पेट भरकर खाई, तो भी खीर रंचमात्र कम नहीं हुई। यह देखकर उसको बहुत आश्चर्य हुआ और सेठ बलभद्र के कुटुम्ब को भोजन के लिये बुलाया तो भी भोजन कम नहीं हुआ। तब पूरे गाँव को दिन भर भोजन कराया – इस महादान से माता-पुत्र की बहुत प्रशंसा-प्रसिद्धि हुई।

खीर खाकर अकृतपुण्य बछड़ों को चराने के लिये वन में ले गया। किन्तु पेट भर गरिष्ट भोजन खाने से उसको निद्रा आ गई और गायें स्वयं वापिस घर आ गईं। गायों को अकेला आया देखकर उसकी माता सोचने लगी कि पुत्र वापिस घर क्यों नहीं आया ? उसे क्या हुआ होगा ? ऐसी चिन्ता से वह रोने लगी और सेठ से उसकी खोज कराने को कहा। मृष्टदाना के आग्रह से सेठ अपने नौकरों सहित अकृतपुण्य को खोजने के लिये निकला।

इधर जब अकृतपुण्य की निद्रा उड़ी तो उसने गायों को नहीं देखा, अतः व्याकुल होकर उन्हें चारों तरफ खोजते-खोजते घर की तरफ आने लगा। इतने में अपने सामने सेठ बलभद्र को आते देखकर डरकर पर्वत पर चढ़ गया। बलभद्र ने उसकी बहुत खोज की, परन्तु उसके नहीं मिलने पर वह वापिस घर आ गया।

अकृतपुण्य पर्वत ऊपर गुफा के दरवाजे पर खड़ा रहा। गुफा में

सुव्रत मुनिराज धर्म का उपदेश दे रहे थे, सो अकृतपुण्य भी उसे प्रसन्नता पूर्वक सुनने लगा।

उपदेशपूर्ण होने के पश्चात् श्रावकगण णमो अरहंताणं का उच्चारण करते हुये गुफा में से बाहर निकले। अकृतपुण्य भी उन लोगों के साथ मंत्र का उच्चारण करते हुये पीछे-पीछे जा रहा था, इतने में एक क्षुधातुर बाघ ने उसे पकड़ लिया और अकृतपुण्य ने मंत्र के स्मरण सहित समाधिपूर्वक देह का त्याग किया और उपार्जित किये हुये महान पुण्य के उदय से सौधर्म स्वर्ग में महर्धिक देव हुआ।

अहो ! देखो, कहाँ तो उसके प्रबल पापोदय और कहाँ उस दुर्लभ पात्रदान का योग और कहाँ उत्तम भावना से प्राप्त स्वर्ग ?

इधर रात भर पुत्र के न आने से चिंतातुर माता सवेरा होते ही सेठ बलभद्र को लेकर पुत्र को खोजने के लिये निकली। वे उसे खोजते-खोजते उसी पर्वत पर जा पहुँचे, कि जहाँ प्रिय पुत्र का आधा खाया हुआ शरीर पड़ा था। उसे देखकर पुत्र की मृत्यु जानकर उसकी माता महाशोक रुदन करने लगी।

इधर अकृतपुण्य स्वर्ग में उत्पन्न होने पर विचार करने लगा कि

अहा ! मैं कौन हूँ ? और यह सुखमय स्थान कौन-सा है ? इत्यादि विचार करते उसे अवधिज्ञान प्रकट हो गया और पूर्वजन्म की सारी बातें जान ली तथा अपनी माता को रुदन करते देखकर उसने सर्वप्रथम तो जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्रदेव की महापूजा-भक्ति की और पश्चात् बहुत वैभव के साथ माता को समझाने के लिये पृथ्वी पर आया। शोक से रुदन करती माता को देखकर कहा कि हे माता ! तू रुदन मत कर, मैं ही तेरा पुत्र हूँ। परन्तु पात्रदान के और व्रतादि के शुभभाव से तथा नमस्कार मंत्र के प्रभाव से मैं देव हुआ हूँ।

– ऐसा कहकर स्वर्ग के उत्तम-उत्तम सुखों का वर्णन किया और अन्त में कहा कि हे माता ! यह सब प्रताप दान, व्रत आदि का है, अत: तू भी व्रतादि का पालन कर और रुदन छोड़ ! रुदन करने से पाप बंध होता है। अत: तू दुर्लभ संयम को ग्रहण करके मनुष्य जन्म सफल कर ! इत्यादि सम्बोधन करके देव (भूतपूर्व पुत्र का जीव) स्वर्ग में गया और माता मृष्टदाना को महान आश्चर्य हुआ कि अहो ! कहाँ तो अकृतपुण्य की दारुण दु:खमय दशा और कहाँ महान पात्रदान लाभ और व्रतादि की भावना से स्वर्ग का उत्तम सुख !

– ऐसा जानकर वह भी घर-बार का परित्याग करके संसार से विरक्त होकर दीक्षित हुई और यथायोग्य तपादि करके समाधिपूर्वक प्राणों का परित्याग किया। जहाँ अकृतपुण्य का जीव था वहीं बलभद्र का जीव देव और मृष्टदाना का जीव देवी हुआ।

मुनिराज धन्यकुमार से कहते हैं कि हे कुमार ! वही बलभद्र स्वर्ग में से यहाँ तेरे पिता धनपाल हुये हैं और माता मृष्टदाना स्वर्ग में से तेरी माता हुई है, जो पूर्व के स्नेह से तुझ पर विशेष प्रेम रखती है। अकृतपुण्य का जीव पात्रदान के प्रभाव से जो स्वर्ग में देव हुआ था, वह अब तुम्हारे रूप में धन्यकुमार बना है और बलभद्र के सात पुत्र तुम्हारे भाई के रूप

में उत्पन्न हुये हैं जो तुम्हें मारना चाहते हैं। तुम्हें वर्तमान में जो स्थान-स्थान पर लक्ष्मी, सौन्दर्यता, यश आदि मिलते हैं, वह सब पूर्व के पात्रदान का तथा व्रतादि की भावना का व नमस्कार मंत्र के स्मरण का फल है। अब तुम इस भव में भी प्रयत्नपूर्वक धर्म करने में सावधान रहना इत्यादि आशीर्वाद दिया। धन्यकुमार अपने पूर्व भव जानकर व पात्रदान आदि का फल जानकर बहुत प्रसन्न हुआ और धर्म में विशेष दृढ़ हुआ।

अब धन्यकुमार मुनिराज के द्वारा सुनाये गये धर्म के उत्तम फल का विचार करते हुए राजगृही नगर की तरफ जा रहा है। राजगृही नगर के बाहर एक सूखे हुये वन में जाकर विश्राम करता है। जब धन्यकुमार वन में सूखे वृक्ष के नीचे विश्राम के लिये बैठता है, तब सारा ही वन एकदम हरा-भरा हो जाता है।

सूखी बावड़ी पानी से भर जाती है। इस वन का मालिक सेठ कुसुमदत्त है। वह अपने वन को सूख जाने से काटने का विचार करता था, इतने में एक अवधिज्ञानी मुनिराज से उसकी भेंट हो गई। सेठ कुसुमदत्त मुनिराज को भक्ति से नमस्कार करके पूछता है कि –प्रभो ! यह वन सूख गया है सो फिर से नंदनवन समान होगा या नहीं ? मुनिराज कहते हैं कि कोई

भाग्यवान पुरुष आकर यहाँ बैठेगा, उस समय यह वन नंदनवन के समान हो जायेगा। इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर सेठ कुसुमदत्त उस भाग्यवान पुरुष की प्रतीक्षा करता था।

धन्यकुमार के आने से यह सूखा वन फल-फूलादि से नंदनवन समान बन जाने से आश्चर्ययुक्त कुसुमदत्त सेठ धन्यकुमार के पास आकर नम्रता से पूछता है कि – आप भाग्यशाली कौन हैं ? और किस स्थान से पधारे हैं ? तब धन्यकुमार कहता है कि मैं उज्जैनी का निवासी वणिक पुत्र जैन हूँ। तब सेठ अत्यन्त प्रसन्नता से कहता है कि मैं भी जैनी ही हूँ – इस कारण आप मेरे साधर्मी हैं, अत: आप मेरे घर पधारने की कृपा करें। धन्यकुमार सेठ का वात्सल्य देखकर उसके घर जाता है। सेठ अत्यन्त आदर सत्कार पूर्वक उसे घर ले जाता है और अपनी पत्नी से कहता है कि यह अपने अतिथि / मेहमान हैं; अत: इनका भली-भाँति स्वागत करना। सेठानी धन्यकुमार को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है और यह मेरा भावी दामाद है – ऐसा जानकर बहुत सत्कार करती है।

कुसुमदत्त सेठ के पुण्यावती नाम की सुन्दर कन्या है। वह धन्यकुमार के रूपादि देखकर मोहित होती है और कुमार की चतुराई की परीक्षा के लिये सुन्दर फूल और डोरा देती है। कुमार उसकी सुन्दर चित्ताकर्षक फूलमाला गूँथ देता है। कुमारी पुण्यावती उस फूलमाला को अपनी सखी राजा श्रेणिक की पुत्री राजकुमारी गुणवती को अर्पण करती है। गुणवती माला देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है और पूछती है कि – ऐसी सुन्दर गूँथी हुई पुष्पमाला किसने बनाई है ? तब पुण्यावती कहती है कि हमारे घर एक सेठ पुत्र आया है, उस बुद्धिमान ने बनाई है। राजकन्या गुणवती सेठ पुत्री से कहती है कि – अहो ! तू बहुत भाग्यशाली है जिससे तुझे ऐसे उत्तम वर की संगति मिलेगी।

एक समय धन्यकुमार बाजार में जाता है और एक सेठ की दुकान

पर बैठता है। उसके बैठने से सेठ को व्यापार में बहुत लाभ होने से उसका कारण पुण्यशाली धन्यकुमार को जानकर वह कुमार से विनती करता है कि मेरी पुत्री सुन्दर, रूपवान और गुणवान है मैं उसका विवाह आपके साथ करूँगा। इसी तरह दूसरे दिन शालीभद्र सेठ की दुकान पर जाकर कुमार बैठा तो उसे भी व्यापार में बहुत लाभ हुआ। वह इस लाभ का कारण पुण्यशाली कुमार है – ऐसा जानकर कुमार से कहता है कि – हे भद्र ! मेरी बहिन की सुभद्रा नामक कन्या है, मैं उसका विवाह आपके साथ करूँगा। इसी प्रकार अन्य भी कितने ही श्रीमंतों ने अपनी कन्याओं का विवाह धन्यकुमार के साथ करने का निश्चय किया।

राजा श्रेणिक की पुत्री गुणवती भी धन्यकुमार के रूप-गुण से मोहित होकर दिन-प्रतिदिन दुबली होने लगी। यह जानकर राजा श्रेणिक ने अपने पुत्रों से सलाह माँगी कि गुणवती का विवाह धन्यकुमार के साथ करना उचित लगता है ?

तब राजपुत्र कहते हैं – पिताजी ! उसकी शूरवीरता आदि की परीक्षा करना चाहिये और उसके लिये नगरी के बाहर राक्षस गृह है, उसे उसमें एक रात्रि रखना चाहिए, यदि वह राक्षस गृह के उपद्रवों पर विजय प्राप्त कर ले, तो गुणवती का विवाह उसके साथ कर देना। इस प्रकार विचार करके धन्यकुमार से रात्रि में राक्षसगृह जाने को कहा। धन्यकुमार ने सहर्ष उसका स्वीकार कर लिया। अन्य अनेक श्रीमंतों ने उसे जाने को मना किया कि जो उस राक्षस गृह में जाता है वह मृत्यु से बचता नहीं है, अत: आप वहाँ नहीं जावे; परन्तु कुमार तो निडर है, इसलिये उसने किसी की बात न मानकर अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक राक्षस गृह में जाना स्वीकार किया।

धन्यकुमार को राक्षस गृह में आते देख गृह का रक्षक राक्षस बहुत प्रसन्न होता है और नमस्कार करके कहता है कि हे प्रभो ! आप मुझे अपना सेवक समझें, मैंने इतने समय से आपके धन-खजाने से परिपूर्ण इस भवन

की रक्षा की है। अब आप आ गये हैं तो अपना धन-खजाना संभालें और जब कभी भी ऐसी आवश्यकता पड़े तब इस सेवक को अवश्य याद करना, मैं हाजिर हो जाऊँगा – ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गया। कुमार रात्रि में सुखपूर्वक वहाँ रहा और प्रात:काल उठकर सामायिकादि क्रिया करके प्रसन्नतापूर्वक गाँव में आ गया। यह देखकर राजा श्रेणिक आदि को आश्चर्य के साथ यह निर्णय हो गया कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, महान गुणवान पुरुष है – ऐसा जानकर उन्होंने अपनी पुत्री गुणवती का विवाह कुमार के साथ कर दिया और साथ ही आधा राज्य भी दे दिया। अब धन्यकुमार राजा हो गये हैं, यह सब पुण्योदय का फल है, जो धर्म सेवन से होता है – ऐसा जानकर कुमार अत्यन्त रुचिपूर्वक धर्म का पालन करता है और समय-समय पर धर्म की महान प्रभावना करता है और सुखपूर्वक आनन्द से रहता है।

जब धन्यकुमार भाइयों की दुष्टता से गाँव छोड़कर चला आया था तभी से उनके नवनिधि विलुप्त हो गई तथा सभी हैरान-परेशान होकर उस घर को छोड़कर पुराने मकान में रहने गये तथा भाइयों की दुष्टता से गाँव के लोग उनकी निन्दा करने लगे और कुपुत्रों के पापोदय से धन समाप्त हो गया, पेट भरना भी मुश्किल हो गया – इस प्रकार वे सब महादु:खी हो गये।

एक दिन सेठ धनपाल अपने धनवान भानजे सेठ शालिभद्र के यहाँ जाने को रवाना हुआ। राजगृही पहुँचकर धन्यकुमार के महल के नीचे बैठकर शालिभद्र का मकान कहाँ है ? – यह पूछने लगा। धन्यकुमार महल के ऊपर बैठा था, उसकी नीचे नजर पड़ते ही, अहो ! ये तो मेरे पिताश्री ही है – ऐसा पहिचानते ही तुरन्त नीचे आकर पिताजी के चरणों में नम्रीभूत हो गया। बेचारे पिताजी तो उस समय फटे हुये कपड़े पहिने भिखारी के जैसे हो रहे थे। उन्हें राजा धन्यकुमार को नमस्कार करते देखकर राज्य कर्मचारी और नगरजन आश्चर्य करने लगे। पिता धनपाल

तो धन्यकुमार को पहिचान ही नहीं पाये – इस कारण राजा को अपने पैरों में पड़ने से लज्जित हो जाते हैं और कहते है – अहो नराधीश ! आप तो महान पुण्यात्मा हो, आप तो पृथ्वीपालक हैं – अतः मुझे आपको नमस्कार करना चाहिये ? यह सुनकर धन्यकुमार कहता है कि – आप ही नमस्कार करने योग्य हैं; क्योंकि आप मेरे पूज्य पिताजी हैं और मैं आपका सबसे छोटा पुत्र हूँ – ऐसा सुनते ही पिता पुत्र को पहिचान लेते हैं और उनकी आँखों से आनन्द की अश्रुधारा बह निकलती है, यही दशा धन्यकुमार की हो जाती है।

धन्यकुमार पिताजी को अपने महल में ले गये और माता तथा भाइयों के कुशल समाचार पूछे। पिताजी ने उसके जाने के बाद घटित समस्त दुःखद वृतान्त कह सुनाया। तब धन्यकुमार ने सेवकों के साथ धन-धान्य, वस्त्रादि भेजकर उज्जैनी से माता व भाइयों को बुलाने भेजा। माता और भाई धन्यकुमार के समाचार जानकर बहुत आनन्दित हुये और राजगृही आ गये। राजगृही आने पर धन्यकुमार माता और भाइयों का बड़ा सत्कार -स्वागत करते हैं और माता-पुत्र परस्पर मिलकर बहुत आनन्दित होते हैं। सबको रहने के लिये कुमार भवन देते हैं, भाई अपने अपराध की क्षमा माँगते हैं। पश्चात् धन्यकुमार धनादि की व्यवस्था कर देते हैं। इस प्रकार धन्यकुमार, माता-पिता और सभी भाई सुख-शान्ति से रहते हैं और विशाल जिनमन्दिरों का निर्माण कराकर धर्मध्यान में समय व्यतीत करते हैं।

एक दिन धन्यकुमार अपनी सुभद्रा नाम की पत्नी का मुख मलिन देखकर पूछते हैं कि – हे प्रिये ! आज तुम्हारा मुख मलिन क्यों दिख रहा है ? तुम्हें कुछ शोक है – ऐसा लगता है ? तब सुभद्रा कहती है कि हे स्वामी ! मेरा भाई शालिभद्र बहुत दिनों से कुटुम्ब घर आदि से उदासीन होकर वैराग्य के चिन्तनपूर्वक घर में तप का अभ्यास करता है; परन्तु

आज ज्ञात हुआ है कि वह जिनदीक्षा लेने के लिये तैयार हुआ है – इस कारण से मुझे शोक है। अन्यथा मैं आपके राज्य में सब प्रकार से अत्यन्त सुखी हूँ। यह सुनकर धन्यकुमार सुभद्रा से कहता है कि मैं अभी ही जाकर शालिभद्र को सुमधुर वचनों से समझा दूँगा – तू शोक छोड़।

धन्यकुमार उसी समय अपन साले के घर गया और कहा – अरे शालिभद्र ! तुम आजकल घर क्यों नहीं आते ? तब शालिभद्र कहता है कि हे प्रियवर ! संयम बहुत कठिन है अतः उसकी सिद्धि के लिये घर में रहकर तपश्चरण का अभ्यास करता हूँ – इस कारण आपके यहाँ नहीं आ पा रहा हूँ। यह सुनकर धन्यकुमार कहता है कि अरे भाई ! तुम्हें जिनदीक्षा लेनी हो तो जल्दी करो, जो ऋषभदेव आदि महापुरुष मोक्ष गये हैं, क्या उन्होंने घर में तपश्चरण का अभ्यास किया था ? वे तो उल्कापात आदि किंचित् मात्र वैराग्य का कारण पाकर करोड़ों वर्षों से भोगे हुये भोगों को क्षणमात्र में छोड़कर तप द्वारा मुक्त हो गये। वस्तुतः उन्हें ही पुरुषोत्तम कहा जाता है। तुम तो डरपोक दिखते हो इस कारण घर में रहकर तप का अभ्यास कर रहे हो। देखो ! मैं अभी ही कठिन दीक्षा और तप को उसके अभ्यास किये बिना ही ग्रहण करता हूँ। क्या तुम नहीं जानते कि पापी काल कब आकर भक्षण कर लेगा, इसका कुछ भी विश्वास करने योग्य नहीं है। इस कारण जो संसार से छूटना चाहता है, उसको जब तक वृद्धदशा नहीं आवे, इन्द्रियाँ शिथिल न होवें, उसके पूर्व ही मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिये – इत्यादि हितकर और वैराग्यपूर्ण वचनों से शालिभद्र के रोम-रोम में वैराग्य रस जागृत करके उन्हें तत्काल ही मुनिपद के लिये तैयार कर दिया और स्वयं भी उनसे अधिक विरक्ति पूर्वक अपने घर गये, राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपा और माता-पिता श्रेणिक आदि से आज्ञा लेकर शालिभद्र आदि अनेक लोगों के साथ भगवान महावीर के समवशरण में गये।

समवशरण में जाकर भगवान के दर्शन-पूजन किये, अनेक प्रकार

के गुणगान करके भगवान की भक्ति की; तत्पश्चात् प्रभु से विनती की, कि हे नाथ ! हमें मोक्ष प्रदायक भगवती जिनदीक्षा प्रदान करो – ऐसा कहकर हाथ जोड़कर खड़े रहते है और भगवान की आज्ञा अनुसार धन्यकुमार, शालिभद्र आदि के साथ बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर मोक्ष की माता रूपी दिगम्बर दीक्षा अंगीकार कर अनेक प्रकार की कठिन तपश्चर्या करते हैं।

इस प्रकार मुनिराज धन्यकुमार तपश्चरण कर अन्त में सल्लेखना का पालन करते हैं। अन्त में प्रायोपगमन मरण से ध्यान और समाधिपूर्वक बाह्य दश प्राणों का त्याग कर धर्म के प्रभाव सवार्थसिद्धि स्वर्ग में अहमिन्द्र हुए। तथा वहाँ से चय कर मनुष्य पर्याय प्राप्त कर मोक्ष जायेंगे।

शालिभद्र आदि मुनिराज भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार तपश्चरण करके समाधि मरण पूर्वक देह त्याग कर यथायोग्य स्वर्गों में गये।

अहो ! देखो, पवित्र जैन धर्म की महानता ! जो जीव इसको अपने अन्दर उतारता है, उसका कल्याण नियम से होता ही है। देखो, धन्यकुमार का जीव पापी चोर होकर जिनमंदिर का निर्माल्य द्रव्य चोरी किया, सातवें नरक में गया, वहाँ के घोर दुःख भोगे। उसके बाद अकृतपुण्य हुआ और मात्र मुनिराज को आहारदान देने की भावना मात्र से महान पुण्यार्जन कर स्वर्ग गया, तत्पश्चात् महाभाग्यशाली के रूप में धन्यकुमार हुआ और मुनि होकर तपश्चरण पूर्वक समाधि पूर्वक प्रायोपगमन मरण कर सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हुआ। तथा अगले भव में मोक्ष जायेगा।

ऐसे पापी जीवों को भी पवित्र बनाकर मोक्षमार्ग में लगाने वाला यह महान जैनधर्म हमें भी अपना कर अपने आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। ●

एकाग्रता का अभ्यास मन की शान्ति के लिए सबसे बड़ा टॉनिक है।

चेतन और काया का संवाद

प्रस्तावना

काया चेतन में हुई, एक दिना तकरार।
श्री मुनिवर के निकट जा, चेतन करी पुकार॥ (१)

चेतन– हे नाथ ! काया यों कहती, नहीं साथ तुम्हारे चलती हूँ।
तुम्हारा मेरा साथ यहीं तक, अब मैं यहीं पर रहती हूँ॥
कैसे छोड़ूँ मैं इसको, हा ! बड़े प्यार से पाला था।
इसके खातिर स्वामी मैंने, घर-घर डाका डाला था॥
इस प्रकार ये झगड़ रही है, मूरख नादानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ?॥(२)

गुरुदेव– चेतन की करुणा भरी, श्रीगुरु सुनी पुकार।
काया से पूछत गुरु, यों मृदु वचन उचार॥
ये काया ! क्या बात है, चेतन के प्रतिकूल।
तुम भी अपनी बात को, बतलाओ अनुकूल॥ (३)

काया– बोली काया हे गुरु ! सुनो हमारी बात।
ये चेतन तो मूर्ख है, करै अनाड़ी बात॥
'चलो हमारे साथ तुम', ये चेतन यों कहता है।
मेरे कुल की रीत अनादि, यह सब मेटन चाहता है॥
इन्द्र-नरेन्द्र-धरणेन्द्र के संग, नहीं गयी सब जानत है।
ये चेतन मूरख अभिमानी, मुझसे प्रीति ठानत है॥
छोड़ दियो संग मैंने स्वामी, तीर्थंकर सम ज्ञानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ?(४)

गुरुदेव – कहो चेतनजी ! इस दलील पर आपका क्या कहना है,
काया में नहीं चेतनता फिर उससे तुम्हें क्या करना है ?

चेतन– इस काया को बड़े प्यार से, लड्डू खूब खिलाये थे।
चिलगूजा, अकराठ और अंगुरादिक भी मंगवाये थे।।
पिस्ता किसमिस दाख छुहारे, अरु इलायची लाया था।
स्वर्णभस्म तथा मकरध्वज, इसको खूब खिलाया था।।
फिर भी ये यों कहती है, नाहक खींचातानी को।
हाय! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ?।।(५)

काया– ये चेतन झूठा है स्वामी ! झूठी बातें बकता है।
मनमानी करता रहता खुद, बदनामी मेरी करता है।।
मैंने कब चाहे लड्डू अरु मोहनभोग मसालों को ।
स्वर्णभस्म या मकरध्वज ये, चाहिए इन मतवालों को।।
मैं चेतन के चक्कर में पड़, सहती हूँ बदनामी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ?।। (६)

चेतन– कोट बूट पतलून पहनकर, इसको खूब सजाया था।
इतने पर भी न हुई राजी, तब शिर पर टोप लगाया था।।
नेकटाई भी गले बाँधकर, इसकी शान बढ़ाई थी।
गाँधी टोपी भी शिर पर रख, इज्जत खूब बढ़ाई थी।।
किन्तु आज मेरी मेहनत पर, फेर रही है पानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ?।। (७)

गुरुदेव – री काया ! चेतन जो कह रहा है, इसका क्या कोई समाधान है ? हे गुरुदेव ! यह तो अज्ञान भरा बकवास ही है।

काया– मेरा स्वभाव जड़ है स्वामी ! ये चेतन अभिमानी है।
यह अपने अभिमान विवश हो, करता खींचातानी है।।
स्वयं कोट पतलून पहन, बहुरूपी वेष बनाता है।
अपनी मनमानी करता, अरु मुझको नाच नचाता है।।

देख-देख पछताती हूँ मैं चेतन की नादानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ? ॥ (८)

गुरुदेव – *'कहो ! चेतनजी ! इस पर आपका क्या कहना है ?'*

चेतन– दूध मलाई हलुआ रबडी, मोहन-भोग खिलाये थे।
और इत्र फल-फूलों को, इसने ही नित्य मंगवाये थे॥
ऊँचे-ऊँचे तेल लब्हन्डर, मधुर-मधुर खुशबू वाले।
इसने ही पीये थे स्वामी, शरबत के ऊँचे प्याले॥
किन्तु आज यह यों कहती है, देखो खींचातानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ? ॥ (९)

काया– *(जोर से हँसकर, गुरुदेव ! यह क्या पागल सरीखी बातें बकता है ?)*

मैं हूँ जड़, ये हैं गुरु चेतन, इनके मेरे काम जुदे हैं।
खुद ही दूध मलाई पेड़े स्वामी ये खा जाते हैं॥
शरबत के प्याले भर-भर कर, हाय ! चेतनजी पीते थे।
ये ही गंध खुशबू वाले, दौड़-दौड़ कर लेते थे॥
किन्तु झूठा दोष लगा, मेरी करते बदनामी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ?॥ (१०)

गुरुदेव – *कहो चेतनजी ! काया जो बात बता रही है, वह तो ठीक प्रतीत होती है। उस पर आपका क्या कहना है ?*

चेतन– इस पापिन के पीछे मैंने, भक्ष्याभक्ष्य सभी खाये।
आलू, गोबी और टमाटर, झोली भर-भर के लाये॥
रात गिनी नहिं दिवस गिना नहिं, जब आया तब ही खाया।
पिया तेल कॉडलिव्हर का अरु इंजक्शन भी लगवाया॥
इतने पर भी अकड़-अकड़ कर, बता रही मर्दानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ? ॥ (११)

काया– *गुरुदेव ! इसका यह कहना सफेद झूठ है । सुनिये मेरा इस पर उत्तर–*

भक्ष्याभक्ष्य पदार्थ ही मेरे खातिर न कभी खाये हैं।
अपनी ममता की पूर्ती हित, तुमने माल उड़ाये हैं।।
रे चेतन ! तू हुआ लोलुपी, रात दिवस अन्याय किया।
सुन्दर नारी से रमने को मछली का भी तेल पिया॥
अरे ! मैंने कई बार धिक्कारा तेरी इस नादानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ?॥ (१२)

चेतन– *गुरुदेव ! आश्चर्य है इस काया की इन कृतघ्नताभरी बातों का !*

इसी देह के पीछे मैंने, धर्म कर्म सब छोड़ दिया।
मात-पिता-सुत-नारि-मित्र से, मैंने नाता तोड़ दिया॥
जो आज्ञाएँ इसने दी, वे सब मैंने पूरी की थी।
इसके पीछे पाप-पुण्य की सभी बला सिर पर ली थी॥
किन्तु आज देखो ये कैसी, करती है हैवानी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ?॥ (१३)

काया– *आश्चर्य है गुरुदेव ! हैवानी यह खुद करता है और दोष मेरे सिर लगाता है।*

इसी निगोडे चेतन ने, सब धर्म कर्म ही छोड़ दिया।
मात-पिता-सुत-नारि-मित्र से, इसी मूर्ख ने कपट किया॥
मेरी इच्छा के विरुद्ध, पापी ने पाप कमाये थे।
खुद इसने ही अत्याचारों के तूफान उठाये थे॥
फिर भी दोष लगाता मुझको, धिक्कार रहो इस प्राणी को।
हाय ! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ?॥ (१४)

चेतन– *अब तो चेतन अत्यन्त निराश होकर करुणाभरे स्वर में कहता है–*

हे काये ! मैं करूँ निवेदन, दया करो मुझ दुखिया पर।
प्रीत पुरानी जरा निभा लो, साथ हमारे तुम चलकर॥
हाथ जोड़कर तेरे पग में, अपना शीष झुकाता हूँ।
चलो साथ, नहिं रहो यहाँ, मैं अपनी कसम दिलाता हूँ॥
बार-बार मैं मांगत माफी, क्षमा करो अज्ञानी को।
हाय! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ?॥ (१५)

काया– हे चेतन मैं करूँ निवेदन, मुझे न अब तुम तंग करो।
प्रीत यहीं तक तेरी-मेरी, आगे की मत आश करो॥
हाथ जोड़कर कहती हूँ, ये अनहोनी नहिं होने की।
चाहे सौ-सौ कसमें दो, या घड़ी बताओ सोने की॥
किन्तु साथ नहिं गयी किसी से, पूछो ज्ञानी-ध्यानी को।
हाय! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ?॥ (१६)

चेतन– हे गुरुदेव ! दया करके, इस काया को समझा दीजे।
साथ हमारे इसे भेजकर, मेरा काम बना दीजे॥
पर-उपकारी दुखहारी तुम, करुणानिधि कहाते हो।
छोटे से छोटा-सा झगड़ा, नाहक नाथ ! बढ़ाते हो॥
जरा दया कर सुन लो स्वामी, मेरी करुण कहानी को।
हाय! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी प्रीत पुरानी को ?॥ (१७)

काया– हे गुरुदेव ! दया करके इस चेतन को समझा दीजे।
यों शरीर का सत्स्वरूप इस चेतन को बतला दीजे॥
दीननाथ ! तुमने ही तो मुझसे सब नाता तोड़ा है।
शिव-सुंदरी के अटल प्रेम से तुमने नाता जोड़ा है॥
इसीलिए 'छोटा' कहता है, सुनो जरा जिनवाणी को।
हाय! कहो अब कैसे छोड़ूँ, अपनी रीत पुरानी को ?॥ (१८)

'देह-चेतन एक है' – यह वचन है व्यवहार का।
'ये एक हो सकते नहीं' – यह वचन है परमार्थ का॥

तोता और पिंजरा

एक तोता था, जंगल में स्वाधीन रूप से आकाश में उड़ने वाला वह तोता बहुत समय से एक पिंजरे में रहता था। वह अपने स्वाधीन जीवन को भूलकर पिंजरे के ज़ीवन को ही अपना जीवन मानने लगा था। वह अपनी सत्ता को ही भूल गया था और अपनी सत्ता पिंजरे से ही मानने लगा था, पिंजरे में रहना उसी में पंखों को फड़फड़ाना, पिंजरे का मालिक जो सिखा देवे उसे ही बोलना। बस, वह अपना इतना ही जीवन मानने लगा था। वह ऐसा मानता था कि यदि पिंजरा नहीं हो तो मैं कैसे रहूँगा, मेरा क्या होगा ? पिंजरे के बिना मानो मैं रह ही नहीं सकता हूँ – ऐसी उसे कुटेव पड़ गयी थी। पिंजरे के बिना वह अपना अस्तित्त्व ही नहीं मानता था।

अरे रे ! पिंजरा जो वास्तव में तोता के लिए बंधन रूप है, अज्ञानी तोता उसे ही अपने हित रूप मानने लगा, इसलिए तो वह पिंजरे को नहीं छोड़ना चाहता।

एक दिन वह जंगल के मुक्त वातावरण में अपने जातिभाई एक अन्य तोता को उड़ते हुए, आकाश में किलोलें करते हुए देखकर विचार करता है कि अरे यह पिंजरा मात्र मेरा जीवन नहीं है, मैं तो आकाश में स्वतंत्र और मुक्त रहकर इसकी भाँति उड़ सकता हूँ। पिंजरा तो मुझे बंधन रूप है ऐसा समझ कर वह तोता पिंजरे को छोड़कर स्वतंत्र जीवन का आनन्द लेने लगा।

इसी प्रकार यह मनुष्य देह रूपी पिंजरे में बैठा हुआ भगवान आत्मा रूपी तोता जो कि अपने स्वतंत्र स्वाधीन मुक्त जीवन को भूल कर अज्ञान से देह के जीवन को ही अपना जीवन मानने लगा। शरीर से ही अपनी सत्ता मानने लगा, वह ऐसा मानने लगा कि यदि शरीर रहेगा तो मैं रहूँगा, शरीर के बिना मेरा अस्तित्व ही नहीं है; अतः वह निरन्तर शरीर

की ही साज-संभाल करने लगा। अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाने लगा, अच्छा-अच्छा खाना खिलाने लगा; क्योंकि वह यह मानता है कि इनके बिना शरीर नहीं रहेगा और शरीर के बिना मैं नहीं रहूँगा।

इस प्रकार शरीर के हित में ही अपना हित और शरीर के अहित में अपना अहित मानने के कारण वह सदा शरीर की चिन्ता में लगा हुआ है। शरीर नहीं रहेगा तो मेरा क्या होगा अर्थात् शरीर बिना मैं रहूँगा ही नहीं – ऐसी कुटेव से वह शरीर को और अपने को एक मानकर शरीर में ही मग्न है।

श्रीगुरु समझाते हैं कि अरे जीव ! मुक्ति के अतीन्द्रिय आनन्दमय वातावरण में मग्न रहते और सिद्धालय में निवास करते हुए, ऐसे अपने जातिभाई सिद्धों को देखकर जरा विचार तो कर कि अरे ! मेरा जीवन तो सिद्धों के समान मुक्त और स्वाधीन है। सुख के लिए मुझे बाह्य पदार्थों की पराधीनता नहीं है। मुझे मेरे जीवन के लिए बाह्य शरीर आदि की भी पराधीनता नहीं है, मैं तो निर्विकल्प स्वानुभूति के अतीन्द्रिय गगन में निरालम्बी होकर विचरण करने वाला हूँ।

इस प्रकार जो जीव सिद्ध समान निज स्वरूप को देखकर देह रूपी पिंजरे की ममता छोड़कर देह से भिन्न निजचिदानन्द स्वरूप का अनुभव करता है, वही मुक्त जीव की तरह सिद्ध गगन में निवास करता है। ●

सर्वज्ञकथित धर्म को जो नहीं मानता और कुधर्म के सेवन को नहीं छोड़ता, वह जीव संसाररूपी घोर दुःख के समुद्र में से कैसे निकलेगा ?

जीव ने संसार के निष्प्रयोजन पदार्थों की परीक्षा की, परन्तु अपने हित-अहित का विवेक न किया। यदि सुदेव-सुगुरु-सुधर्म को और कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को परीक्षापूर्वक पहचाने तो सत्य की उपासना करके वह सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त करे और तब उसका दुःख मिटे।

– छहढाला प्रवचन भाग १, पृष्ठ १०४

जगत का एक महान आश्चर्य

एक गाँव में, एक विधवा औरत रहती थी। उसका एक गौशलिया नाम का पुत्र था। उसकी आर्थिक स्थिति साधारण थी। जब गौशलिया पन्द्रह वर्ष का हुआ, तब माँ ने थोड़े से रुपये देकर उससे कहा कि बेटा! तुम शहर में जाओ और इन पैसों से कुछ सामान ले आओ और व्यापार करो, जिससे अपनी आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हो।

गौशलिया ने कहा – माँ इतने बड़े शहर के बाजार में मनुष्यों की भीड़ में यदि गौशलिया खो जायेगा तो उसे कैसे खोजूँगा ? यह सुनकर माता ने कहा – अरे ! गजब हो गया। तू स्वयं गौशलिया है और तू खो जाये ऐसा कैसे हो सकता ? फिर भी माता ने गौशलिया की तसल्ली के लिए कहा कि देख, तू स्वयं गौशलिया है और गौशलिया कभी स्वयं गुमता नहीं है, फिर भी यदि तुझे गौशलिया के खो जाने की शंका हो जाये तो मैं तेरे हाथ में धागा बाँध देती हूँ, उसे देखकर तू यह निर्णय कर लेना कि गौशलिया नहीं खोया है। ऐसा कहकर माता ने उसके हाथ में धागा बाँध दिया और गौशलिया भाई शहर में खरीददारी के लिए चल दिये।

गौशलिया के पास थोड़ा ही रुपया था, इसलिए उसे हल्दी, मिर्ची आदि परचूनी का सामान लेना था। शहर में जाकर उसने हल्दी आदि परचूनी के बाजार में दुकानों पर बहुत कम ग्राहक देखकर विचार किया कि यहाँ भीड़ बहुत कम है, अत: यहाँ सामान महगा मिलेगा और सट्टा बाजार में बहुत भीड़ देखी, "वहाँ सौदा सस्ता मिलेगा" – ऐसा विचार कर वहाँ चला गया। सट्टे बाजार की भीड़-भाड़ में उसके हाथ का धागा छूट गया।

सट्टा बाजार में उसे हल्दी, मिर्ची आदि सामान तो नहीं मिला, अत: वह वहाँ से वापस आने लगा। वापस आते हुए उसने सोचा कि इतनी भीड़ में कहीं गौशलिया तो नहीं खो गया, जरा देख तो लूँ। ऐसा विचार कर वह अपने हाथ में बँधे धागे को देखने लगा। धागा नहीं दिखने पर वह घबराया और पूरे शहर में गौशलिया को खोजने लगा, परन्तु

गौशलिया कहाँ से मिलता; क्योंकि वह तो माँ के कहे अनुसार धागा देख रहा था और उसे ही गौशलिया मान रहा था तथा धागा उसे दिखा नहीं। अत: अन्त में शाम को थक कर घर आ गया और माँ से बोला – माँ गौशलिया शहर में खो गया है। मैंने उसे बहुत खोजा पर वह कहीं नहीं मिला, शायद वह गाँव आ गया होगा, अत: अब तुम मुझे टार्च दे दो मैं उसे गाँव में खोज लाता हूँ। माँ ने देखा कि उसके हाथ में से धागा गिर गया है। अत: माँ बोली – बेटा ! अभी तू बहुत थक गया है, इसलिए अभी सो जा। सुबह खोज लायेंगे। जब वह रात को सो गया तब माँ ने उसके हाथ पर पुन: धागा बाँध दिया, जब वह सुबह सो कर उठा तो हाथ में धागा देखकर बोला – माँ गौशलिया मिल गया।

तब माता ने कहा – अरे बेटा ! गौशलिया कहीं नहीं खोया था, गौशलिया तो गौशलिया में ही था। जब हाथ में धागा नहीं बंधा था, तब भी तू था और अब जब हाथ में धागा बंधा है, तब भी तू है; परन्तु जब धागा टूट गया था, तब तुझे भ्रम हो गया था, अत: तू स्वयं को ही बाहर में खोज रहा था।

गौशलिया के समान अज्ञानी जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को भूल रहा है और जड़ शरीर के अस्तित्व से ही अपना अस्तित्व मान रहा है। आयु पूर्ण होने पर जब शरीर छूट जाता है, तब अज्ञानी मानता है कि मेरी मृत्यु हो गई, मेरा नाश हो गया। इस प्रकार जड़ शरीर के अस्तित्व से अपना – आत्मा का अस्तित्व मानना धागा के अस्तित्व से अपना अस्तित्व मानने वाले गौशलिया के जैसी मूर्खता है।

अज्ञानी जीव पाँच इन्द्रियों के विषय में सुख की कल्पना करता है, परन्तु सुख तो अपने आत्मा का स्वभाव है अर्थात् सुख तो अपने आत्मा में ही भरा हुआ है। उसकी खबर नहीं होने के कारण अज्ञानी हमेशा पाँच इन्द्रियों के विषयों में ही सुख खोजता रहता है। जिस प्रकार गौशलिया स्वयं था फिर भी स्वयं को खोया हुआ समझकर स्वयं को ही बाहर में खोजता था। इसी प्रकार अज्ञानी जीव स्वयं सुख स्वरूप होने पर

भी उस सुख स्वभाव की श्रद्धा के अभाव में अपने सुख को बाहर में खोजता रहता है। परन्तु जिस प्रकार बाहर में गौशलिया नहीं मिला, उसी प्रकार जीव को बाहर इन्द्रिय विषयों में कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं होती।

जब अज्ञानी जीव श्रीगुरु के उपदेश से आत्मा के अद्भुत महात्म्य की बात सुनता है, तब उसे प्रश्न उठता है कि ऐसा आत्मा मुझे दिखता क्यों नहीं है ? घट-पट आदि सभी पदार्थ तो दिखते हैं; परन्तु आत्मा क्यों नहीं दिखता है ?

आबाल-गोपाल सभी को अपने अस्तित्व की निरन्तर अनुभूति हो रही है, फिर भी अज्ञानी को यह प्रश्न उठता है कि आत्मा क्यों नहीं दिखता है ? – ऐसे अज्ञानी को श्रीगुरु कहते हैं कि भाई ! यह घट-पट आदि पदार्थों को जानने वाला कौन है ? जो घट-पट आदि पदार्थों को जानता है वही तो तू है। तू घट-पट आदि पदार्थों को तो जानता है और इन पदार्थों को जानने वाले आत्मा को क्यों नहीं जानता ? अर्थात् जानने वाले की श्रद्धा क्यों नहीं करता, जबकि जानने वाला तू स्वयं ही है। यह महान आश्चर्य की बात है। अपने निरन्तर अनुभव में आने वाला अपने अस्तित्व का विश्वास नहीं होना यही इस जीव की सबसे बड़ी भूल है, भ्रान्ति है।

गौशलिया की मूर्खता तो इस जगत के लोगों को समझ में आती है; परन्तु अपने आत्मा को न जानने वाली महामूर्खता यह जीव नहीं समझता।

श्रीगुरु गौशलिया का दृष्टांत देकर अज्ञानी जीव को आत्मा का स्वरूप समझाते हैं कि हे भाई ! तू अपने अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, उसको स्वीकार कर। उसको स्वीकार किये बिना तू चार गति के दुखों को उठा रहा है। यदि तू अपने उस ज्ञान और सुख स्वभाव की समझ पूर्वक अपने अस्तित्व को स्वीकार करे तो तेरे चार गति का परिभ्रमण छूट जाये और तुझे अनन्त सुख की प्राप्ति हो। ●

समझदार कौन ?

जब पाण्डवों और कौरवों में युद्ध होने की घोषणा हो गई, तब दोनों ही अपने-अपने पक्ष में लड़ने हेतु राजाओं से सम्पर्क स्थापित करने लगे।

इसी श्रृंखला में कौरवों की तरफ से दुर्योधन तथा पाण्डवों की तरफ से अर्जुन श्रीकृष्ण के पास भी गये। जब ये दोनों श्रीकृष्ण के पास पहुँचे, तब श्रीकृष्ण आराम कर रहे थे। अतः दुर्योधन तो उनके सिरहाने के पास बैठ गये और अर्जुन पैरों के पास बैठे गये।

श्रीकृष्ण के जागने पर उनकी दृष्टि अर्जुन पर पड़ी, तब उन्होंने अर्जुन से उसके आने का कारण पूछा। तब बीच में ही दुर्योधन ने कहा, 'पहले मैं आया हूँ, अतः पहले मेरा अधिकार बनता है, बात करने का भी और सहयोग मांगने का भी।' तब श्रीकृष्ण कहते हैं कि "पहले मेरी नजर तो अर्जुन पर पड़ी है, फिर तुम दोनों मांग लो – मेरी एक तरफ तो पूरी सशस्त्र सेना रहेगी और दूसरी तरफ शस्त्र रहित अकेला मैं रहूँगा।

तब दुर्योधन ने कहा – मुझे तो पूरी सेना चाहिये।

अर्जुन बोला – मुझे तो एक मात्र आप (श्रीकृष्ण) ही चाहिए। आपके मिलने पर मुझे अन्य किसी की भी जरूरत नहीं है।

अन्त में क्या हुआ ? यह जग प्रसिद्ध है, अर्जुन जीत गया और दुर्योधन हार गया।

इस दृष्टांत द्वारा यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दुर्योधन के समान दुर्बुद्धि अज्ञानी जीव मात्र बाह्य सामग्री, बाह्य में – पंचइन्द्रियों के विषय, पाँच इन्द्रियों का ज्ञान एवं अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प रूप व्यवहार साधन के द्वारा ही सुख/मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं; परन्तु श्रीकृष्ण के समान बलवान ऐसा जो एक आत्मस्वभाव, उसे भूल जाते है और मोह की सेना से पराजित हो जाते है, उसे कभी नहीं जीत पाते।

तथा अर्जुन जैसे विवेकी ज्ञानी तो श्रीकृष्ण स्थानीय अनन्त सामर्थ्यवान अपने एकत्व स्वभाव का ही अवलम्बन लेते हैं और उस स्वभाव के अवलम्बन से ही मोह की सेना को क्षण मात्र में परास्त कर मोक्ष लक्ष्मी को जीत लेते हैं। उन्हें बाह्य सामग्री अर्थात् व्यवहार साधन या इन्द्रिय ज्ञान या विकल्पों की कोई जरूरत नहीं पड़ती।

विवेक बुद्धि के द्वारा अनन्त शक्ति संपन्न ऐसे अपने आत्मस्वभाव का अवलम्बन करना और बाह्य व्यवहार साधन के अवलम्बन की बुद्धि छोड़ना – यही आध्यात्मिक महाभारत का सार है। ●

क्षणभर के लिये भी जहाँ सुख नहीं, साता नहीं – ऐसे नरक के दुःख धर्म के बिना अनंतबार जीव ने भोगे। अरे! जीव स्वयं ज्ञान का व सुख का सागर है; परन्तु वह स्वयं अपने को भूलकर अज्ञान से दुःख के सागर में डूब रहा है। नारकी जीव तीव्र दुःख की वेदना से चीख-चीखकर पुकार करता है, परन्तु कौन सुने उसकी पुकार? वहाँ उसकी पुकार सुननेवाला कोई नहीं। असुरदेव उसके पापों की याद दिलाकर उससे कहते हैं कि तुझे मनुष्य पर्याय में माँस बहुत भाता था न! – तो ले, यह खा! ऐसा कह के उसके ही शरीर में से टुकड़ा काटकर उसके मुँह में खिलाते हैं; और तुझे मदिरा-पान का बहुत शौक था न! तो ले, यह पी! ऐसा कहकर संडासी से उसका मुँह खोलकर उसमें सीसे का उबलता रस डालते हैं। वहाँ कोई-कोई जीव नरक की घोर दुःखवेदना से त्रस्त होकर ऐसा विचार करते हैं कि अरे, यह कैसा दुःख? यह आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता; इस दुःख से बचने का कोई स्थान जरूर होना चाहिए। इस प्रकार से विचार करते हुए अन्तर की गहराई में जाकर, शान्ति का धाम ऐसा अपना चैतन्यस्वरूप लक्ष में ले लेते हैं और वहाँ भी अपने स्वभाव में अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन पा लेते हैं।

– छहढाला प्रवचन भाग १, पृष्ठ १०१-१०२

श्री मुनिराज के साथ में

(तीर्थराज सम्मेदशिखर जैसे कोई उपशांतधाम में निवृत्तिपूर्वक रहते हुए मुमुक्षु को कभी महाभाग्य से रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनिभगवंत का दर्शन प्राप्त हुआ, मुनिदर्शन से उसे महा-प्रसन्नता हुई और उनके सत्संग में रहकर आत्महित की अनेकविध चर्चा की। कैसी चर्चा की ? उसका एक नमूना आप यहाँ पढ़ेंगे और आपको भी प्रसन्नता होगी।)

मुमुक्षु ने श्री मुनि महाराज को देखते ही अत्यंत हर्षपूर्वक वन्दना की और कहा – हे प्रभो ! महाभाग्य से आज मुझे आपका दर्शन हुआ। आपके सत्संग में मेरी आत्मभावना अवश्य पूरी होगी। हे गुरुदेव ! रत्नत्रय की अनुभूतिस्वरूप हुआ आत्मा आपके अंतर में विराज रहा है, अतः कृपाकर मुझे भी यही बतलाइये कि ऐसी अनुभूति किस प्रकार हो ?

आचार्य मुनि महाराज ने जिज्ञासु का प्रश्न सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की और आशीर्वादपूर्वक कहा – हे मुमुक्षु ! अनुभूति की महिमा बहुत गम्भीर है। आत्मा स्वयं ज्ञान की अनुभूतिस्वरूप है – ज्ञान की अनुभूति में राग की अनुभूति नहीं है; – ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान करके बार-बार चिन्तन करने से अपूर्व स्वानुभूति प्रकट होती है।

मुमुक्षु फिर पूछता है – हे स्वामी ! ऐसी अनुभूति होने पर क्या होता है ?

मुनिराज ने कहा – सुनो वत्स ! तुम्हारी जिज्ञासा उत्तम है। अनुभूति होते ही आत्मा अपने आप में स्थित हो जाता है; उसमें अनन्त गुण के चैतन्यरस का ऐसा वेदन होता है कि जिस के महान आनन्द को वह आत्मा ही जानता है। यह वेदन वाणी में नहीं आ सकता।

मुनिराज की बात सुनकर मुमुक्षु आत्मा फिर पूँछता है –

प्रभो ! वाणी में आये बिना उस वेदन की पहचान कैसे हो ?

मुनिराज ने उत्तर दिया – हे वत्स ! स्वयं अपने स्वसंवेदन से आत्मा को उसकी पहचान हो जाती है। जैसे यह सम्मेदशिखर पहाड़

नजरों से दिख रहा है, वैसे ही आत्मा अनुभूति में इससे भी अधिक स्पष्ट दिखता है। मुमुक्षु ने आश्चर्य के साथ पूछा – हे देव ! आत्मा के स्वसंवेदन को आँखों से दिखने वाले सम्मेदशिखर से भी अधिक स्पष्ट क्यों कहा ?

श्रीगुरु ने कहा – हे भव्य ! सुनो, नेत्र से जो यह पहाड़ दिख रहा है वह तो इन्द्रियज्ञान है, अत: परोक्ष है और आत्मा को जानने वाला जो स्वसंवेदनज्ञान है वह तो अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष है; अत: वह अधिक स्पष्ट है। अब स्वानुभूति की अधिक गहराई में पहुँचकर वह मुमुक्षु पूछता है कि अनुभूति के समय तो मति-श्रुतज्ञान ही हैं, (अवधि-मन:पर्यय नहीं है) फिर भी उन्हें प्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रिय कैसे कहा ?

श्रीगुरु ने कहा – स्वानुभूति के समय उपयोग आत्मा में ऐसा लीन है कि अब ज्ञानी के इन्द्रियों तथा मन का आलम्बन नहीं रहा। अत: उस समय उसके प्रत्यक्षपना है। अहा, उस समय के अद्भुत निर्विकल्प आनन्द की क्या बात ?

स्वानुभूति की ऐसी सुन्दर स्पष्टता समझकर मुमुक्षु ने परम उपकार बुद्धि से कहा – अहो भगवन् ! आपने अनुभूति की अद्भुत बात समझायी। यह समझकर आज मुझको अलौकिक चैतन्यरस का प्रतिभास हो रहा है। आपके मुख से मानो चैतन्य का अमृत ही झरता हो। मेरे महाभाग्य से आप मिले और आपने मुझे अनुभूति का रहस्य समझाया; तो अब मैं भी अवश्य ऐसी अनुभूति प्रकट करूँगा और आपके संग में रहूँगा। श्री मुनि महाराज ने आशीर्वाद देते हुए प्रसन्नता से कहा – धन्य है तेरी भावना ! तुझे शीघ्र ही अनुभूति का महान लाभ होगा।

'अहो देव ! मेरे जैसे जीवों को अनुभूति का मार्ग दिखाकर आप महान उपकार कर रहे हो। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे आपकी सेवा करने का और आपके साथ में रहने का सु-अवसर प्राप्त हुआ है। मेरी तीर्थयात्रा सचमुच में सफल हुई। (आखिर में उस मुमुक्षु ने आत्मलगन के बल से स्वानुभूति प्राप्त कर ली और मुनिसंघ के साथ में ही रहता हुआ मुनिपद की भावना भाने लगा।)

एक जौंहरी

एक जौहरी था, जिसका नाम था 'राज'। राज का स्वभाव राजा के समान उदार था और धर्म के प्रसंग में तो उसकी भावना अपार थी। धंधा करते हुए भी वह धर्म को नहीं भूलता था। एक बार वह दुकान में बैठा था, तभी एक व्यक्ति आया और उसने राज जौहरी के लिए एक पुस्तक दी।

पुस्तक को देखकर राज ने उस पुस्तक को खोला, एक पेज पढ़ा और उसको अपार आनन्द हुआ।

अहो ! यह तो समयप्राभृत है।

अहो ! यह तो शुद्ध आत्मा का शास्त्र है।

अहो ! यह तो कुन्द-कुन्द आचार्य के अनुभव की बात है।

अहो ! यह तो तीर्थंकर देव का सन्देश है।

वाह ! धन्य भाग्य हमारे।

तुरन्त ही, अपने मुनीम को बुलाया और थाल भर के रुपया मंगाया तथा मुट्ठी भर के उस शास्त्र लाने वाले व्यक्ति को दे दिया और कहा – अरे ! इसके तो प्रत्येक पन्ने में हीरे भरे हैं, जिनकी कीमत तो लाखों रुपयों में भी नहीं आंकी जा सकती।

यह जौहरी राज अर्थात् श्रीमद्राजचन्द्र थे। समयसार के हीरों के पारखी।

सर्वोत्कृष्ट नीति : जैन नीति

जिस वस्तु को तुमने देखा ही नहीं, फिर उसके ऊपर मुफ्त का झूठा आरोप क्यों लगाते हो ? यदि जीव को तुमने देखा होता तो वह तुम्हें चैतन्यस्वरूप ही दिखाई देता और वह जड़ की क्रिया का कर्त्ता है – ऐसा तुम मानते ही नहीं, इसलिए तुम बिना देखे जीव के ऊपर अजीव के कर्तृत्व का मिथ्या आरोप मत लगाओ। यदि झूठा आरोप लगाओगे तो तुम्हें पाप लगेगा, तुम झूठे कहलाओगे।

जैसे – किसी राजमहल में चोरी हुई, एक सज्जन मनुष्य राजमहल से दूर रहता था, वह कभी राजमहल में आया भी नहीं था, तब दूसरा कोई मनुष्य उसके ऊपर कलंक लगावे कि चोरी इस मनुष्य ने की है तो कलंक लगानेवाले से पूछते हैं कि हे भाई...

– क्या उस मनुष्य को तुमने चोरी करते देखा है ?

– नहीं।

– क्या उस मनुष्य को तुम जानते हो ?

– नहीं।

– क्या उस मनुष्य के पास तुमने चोरी का माल देखा है ?

– नहीं।

तो फिर, अरे भाई ! जिस मनुष्य को तुमने चोरी करते देखा नहीं, जो मनुष्य राजमहल में आया ही नहीं, जिस मनुष्य को तू जानता तक नहीं और जिस मनुष्य के पास चोरी का सामन (माल) होने की कोई निशानी भी नहीं– ऐसे सज्जन मनुष्य के ऊपर तुम चोरी का मिथ्या कलंक लगाते हो, इसकारण तुम्हें महान पाप लगेगा।

इसीप्रकार जड़-अचेतन-पुद्गल के महलरूपी इस शरीर में कोई कार्य हुआ। हिलना, बोलना, खाना इत्यादि क्रिया हुई। दूसरा चेतन तत्त्व

उससे दूर अथवा भिन्न रहता है, वह कभी पुद्गल में जाता नहीं, पुद्गलरूप हुआ नहीं। फिर भी अज्ञानी उसके ऊपर कलंक/आरोप लगाता है कि जड़ की क्रिया का कर्त्ता यह जीव है।

तब उस कलंक लगानेवाले से ज्ञानी पूछते हैं कि हे भाई......

क्या जीव को जड़ की क्रिया करते तुमने देखा है ?

नहीं।

क्या तुम जीव (अतीन्द्रिय, अरूपी, चेतनतत्त्व) को जानते हो ?

नहीं।

क्या जीव के अंदर तुमने पुद्गल की कोई क्रिया देखी है ?

नहीं।

तो फिर, अरे अज्ञानी ! जिस जीव तत्त्व को जड़ का काम करते तुमने देखा नहीं, जो जीव तत्त्व शरीर के पुद्गलरूप हुआ नहीं, तथा जिस जीव तत्त्व में अजीव की कोई निशानी नहीं – ऐसे निर्दोष सत् चैतन्य तत्त्व के ऊपर तुम जड़-पुद्गल के साथ सम्बंध का मिथ्या आरोप लगाते हो तो तुम्हें मिथ्यात्व का महापाप लगेगा, चैतन्य तत्त्व का तू अवर्णवाद कर रहा है, यह महा-अपराध है।

अतः भाई ! प्रत्येक तत्त्व के सच्चे कारण-कार्य को जानो। जीव के कारण-कार्य को जीव में जानो और अजीव के कारण-कार्य को अजीव में जानो – ऐसा सच्चा भेदज्ञान करना ही जैनधर्म की उत्तम नीति है।

ऐसी जैनधर्म की नीति का पालन करनेवाला मोक्ष को साधता है और जैन नीति का उल्लंघन करनेवाला अर्थात् जड़-चेतन के कारण-कार्य को एक-दूसरे में मिलानेवाला संसार की जेल में घूमता है।

अतः हे भव्य जीवो ! तुम जड़-चेतन का सर्वथा भेदज्ञान करो.....और भवदुख से छूटो। ●